[illegible]
दुराग्रह को छोड़कर [illegible]
विचार किया जाय। इसी लिए [illegible]
परन्तु, [illegible] है कि [illegible]
और [illegible] को [illegible]
विभाजित कर रहे हैं। [illegible]
परन्तु विचार-भेद [illegible], अपितु [illegible]
की खोज करने में ही [illegible] है।
चिन्तन में [illegible], [illegible] में [illegible]
सत्य की खोज और [illegible]
है। हर्ष की बात है कि [illegible] ऐसे
ही महापुरुष थे (यद्यपि उनके [illegible] में विज्ञान और विचार
के आधुनिक यंत्र न होने से [illegible])
जिन्होंने दुराग्रह, वैर और निन्दा के भाव से ऊपर उठकर
सत्य, स्नेह और शांति की भावना को ही अपनाया था; जहाँ उन्होंने
खण्डन-मण्डन भी किया, वहाँ भी वे शास्त्रीय और सुजनोचित
चर्चा के स्तर से नीचे कभी नहीं गिरे। यही कारण था कि जिनका
उन्होंने सैद्धांतिक विरोध किया, वे लोग भी उनके श्रद्धालु रहे और
जिनके विचारों का उन्होंने खण्डन किया उन्होंने भी उनका
आदर किया।

चरित्र की यह उदात्त-गरिमा मानवता के लिये अत्यावश्यक
होते हुए भी विरलों को ही मिलती है, इसीसे मनुष्य की मनुष्यता में
देवत्व मुखरित हो उठता है। इसका सर्वोत्तम चमत्कार हमें आधु-
निक युग में स्वा० दयानन्द सरस्वती के जीवन में मिलता है।
उनके सत्यार्थप्रकाश को पढ़ जाइये। उसमें विभिन्न मतों का खण्डन-
मण्डन है, परन्तु वह सब कुछ शास्त्रीय और सुजनोचित चर्चा है।
उसमें दुराग्रह या निन्दाभाव की अभिव्यक्ति तनिक भी नहीं मिलेगी।

यही बात उनके भाषणों में भी थी। यही कारण है कि उन्हें अपने जीवनकाल में ऐसे अवसर भी प्राप्त हुये, जबकि उन्हें उन लोगों के मत का भी खंडन करना पड़ा जिनका वे उस समय आतिथ्य स्वीकार कर रहे थे। सत्य में प्रायः कटुता होती है और जो कटु सत्य कहने से भी नहीं डरता उसके शत्रु भी होते हैं। अतः स्वामीजी के भी शत्रु हुये; परन्तु यह समझना भूल होगी कि उनकी हत्या उनके सत्य प्रचार के कारण उत्पन्न शत्रुता से हुई। मेरा अपना विचार है कि सच्चे हृदय से सत्य-धर्म का प्रचार करने वालों में शत्रुओं को जीतने की शक्ति होती है; और स्वामीजी ने भी अपने धर्मान्ध शत्रुओं पर विजय पाई; परन्तु उनकी हत्या का कारण संभवतः (जैसा अन्यत्र प्रकाश डाला गया है) राजनीतिक थी। यही बात गांधीजी के विषय में ठीक उतरती है; कौन जाने यही ईसा के विषय में भी सच हो।

अस्तु, धर्मों के शास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता है। सांप्रदायिक दृष्टि से अध्ययन करने पर धर्म प्रायः अपने वाह्य-स्वरूप में ही सामने आता है और उसकी आत्मा सामने नहीं आ पाती। शुद्ध वैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि ही वस्तुतः उदार दृष्टि है, जिससे देखने पर विभिन्न धर्मों के वाह्य आवरण में छिपी हुई एक ही आत्मा के दर्शन होते हैं। धर्म का वाह्य स्वरूप तो वस्तुतः रूढ़ियों प्रथाओं और अन्धविश्वासों द्वारा निर्मित एक खोखला गृह है जो समयानुसार बदल सकता है और जिसकी रक्षा करके सद्धर्म रूपी गृही को खो देना घोर दुराग्रह एवं मोह है।

परन्तु, धर्म का वाह्य-स्वरूप भी अनिवार्यतः आवश्यक है; सूक्ष्म धर्म की अभिव्यक्ति के लिये स्थूल माध्यम चाहिये ही। अतः अपेक्षाकृत गौण होते हुए भी, वह अपना निज का महत्त्व रखता है, जो जन-साधारण के लिये विशेषतः उपयोगी है। साधारण

सूक्ष्म विद्वानों की अपेक्षा स्थूल कर्मकाण्ड को ही अधिक पसन्द करती है और उसी में अधिक सन्तोष प्राप्त करती है। अतः जि... द्वारा जन-साधारण के स्तर को ऊपर उठाना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक यह है कि विद्वान् लोग साधारण जनता के विश्वासों और भावों को बिना सोचे-समझे केवल अपने पाण्डित्य-प्रद- र्शन के लिये ही ठेस न पहुँचावें, अपितु उनकी प्रत्येक प्रथा और प्रणाली का अध्ययन सहानुभूति पूर्वक करें। आशा है पाठक इन लेखों से और विशेषकर इनमें दिये हुए आचार्यवर के ले... ...चारित से इस मार्ग में पर्याप्त सहायता प्राप्त करेंगे। मेरा प्रयत्न ... ...पर इस महापुरुष के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने... ...क ही सीमित है।

हरिवल्लभ

आचार्यप्रवर श्रीजिनमणिसागरसूरिजी

का

जीवन-परिचय

—+※+—

जैन-समाज के इतिहास में खरतरगच्छ एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विक्रम की ११ वीं शताब्दी में उत्पन्न होकर, यह गच्छ अपनी क्रान्तिदर्शिता, उग्रसुधारवाद और निर्भीक सत्य-प्रचार के लिये निरन्तर प्रसिद्ध रहा। इसके संस्थापक आचार्य जिनेश्वरसूरि ने रूढ़िवादी दम्भ और आडम्बर के गढ़ में जो चिनगारी छोड़ी, वह शताब्दियों तक एक महाज्वाला के रूप में रही, जिसने समाज की मोहनिद्रा और रूढ़ियाग्रहिता को नष्ट करके उसमें एक नई स्फूर्ति और नई शक्ति को भरा। इस ज्वाला में आहुति देने वाले जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनपतिसूरि, जिनेश्वरसूरि द्वि०, कलिकाल कल्पतरु जिनचन्द्रसूरि आदि १४ वीं शताब्दि तक अनेक आचार्य हुए, जिन्होंने अपनी अपनी शक्ति, प्रज्ञा और प्रतिभा द्वारा समाज से शिथिलाचार, अन्धविश्वास और आडम्बर को निकाल फेंकने के लिये अथक परिश्रम करके एक सुदृढ़ और सबल व्यवस्था को जन्म दिया। खरतरगच्छ की इसी परम्परागत प्रखरता को कुछ काल के लिये हम मंद होता हुआ अवश्य देखते हैं, परन्तु १७ वीं शती में युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि, उ० जयसोम, उ० गुणविनय तथा उ० समयसुन्दर और १९ वीं में महोपाध्याय क्षमाकल्याणगणि जैसे महापुरुष उसे पुनः लाने का प्रयत्न करते हैं।

मारा आप लोगों से अन्तिम निवेदन है।" इसी प्रकार स्थानक-
ासियों के सक्रोध उद्‌गारों के उत्तर में आपने कहा है कि—
जिस तरह रोगी का रोग दूर करने वाले वैद्य की दवाई के ऊपर
ज्ञरोगी बहुत ही नाराज होकर गालियें देने लगता है, तो भी
द्य गम्भीरता से सहन करता हुआ उसका रोग दूर करके उसका
पकार करता है। उसी तरह हम लोगों ने भी आपके हमेशा मुंह-
त्ति बांधने वगैरह मिथ्यात्व के रोग को दूर करने के लिये आगम-
ाठों के साथ इस ग्रन्थ में भगवान की वाणी रूप अमृत की दवाई
ो है, जिससे पुण्यवान बड़े खुशी हो रहे हैं परन्तु हठधर्मी हमारे
ऊपर नाराज होकर गालियाँ देते हैं, उनके ऊपर हम नाराज होने
ाले नहीं हैं।"

आचार्यश्री की उदार मानवता और असाम्प्रदायिक दृष्टि का
सबसे अधिक प्रमाण इस बात में देखा जा सकता है कि उन्होंने
अपने एक परमप्रिय शिष्य को उसकी किशोर अवस्था में ही विद्या-
ध्ययन के लिये एक अजैन व्यक्ति के संरक्षण में अनायास ही छोड़
दिया। यह संरक्षण भी एक आध महीने तक नहीं; अपितु वर्षों
तक रहा और उसमें भी विशेषता यह थी कि उन्होंने स्वप्न में भी
किसी प्रकार के सन्देह और भय को अपने मन में स्थान नहीं
दिया। अनेक साधु अपने शिष्यों को न केवल अजैनों से दूर रखने
का प्रयत्न करते हैं, अपितु दूसरे गच्छ के जैन साधुओं से भी उन्हें
बचाते हैं। परन्तु स्वर्गीय आचार्य ने जिस व्यक्ति को केवल एक
बार, वह भी कुछ क्षणों के लिये ही देखा था, उसी के हाथ में
अपनी ऐसी बड़ी निधि को सौंप दिया जिसके हाथ से निकल जाने
पर उनकी परम्परा ही मिट सकती थी। उनके हृदय की विशालता
पर यह श्लोक पूर्णरूप से घटित होता था—

अयं निजो परो वेति, गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम्॥

बाल्य-जीवन

इस उदारचरित महात्मा का जन्म राजस्थान के विशाल मरु-भूमि के एक कोने में हुआ था। भूतपूर्व जोधपुर राज्य के अन्तर्गत जिस रूपावटी ग्राम में उनका जन्म हुआ था, आज उसका कोई चिह्न शेष नहीं है। उसके पास ही प्रवाहित होने वाला एक झरना उस ग्राम को उसी प्रकार बहा लेगया है, जिस प्रकार स्वामी आचार्य ने समाज की कुरीतियों के गढ़ को अपने उपदेश द्वारा ढहाया है। उनका जन्म सं० १८४३ में बीसा पोरवाल जाति के एक परिवार में हुआ था। उनकी माता का नाम पानीबाई और पिता का नाम गुलाबचन्दजी था। वे अपने मा-बाप के इकलौते पुत्र थे, उनके केवल एक बहिन थी, जो उनसे बड़ी थी और जिनकी सन्तान आज भी वांकड़िया वड़गांव में रहती है। घर में इनको मनजी कहकर पुकारा जाता था। यह तो नहीं मालूम कि मनजी किस नाम का संक्षिप्त रूप है; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि बालक मनजी प्रारंभ से ही अत्यन्त मनमौजी होकर यथा नाम तथा गुण को चरितार्थ करने वाले रहे। माता-पिता तथा परिजन, पुरजन उन्हें सदा साधुओं के पास जाने को प्रेरित करते, परन्तु मनजी उनसे ऐसे डरते, जैसे छोटे बालक 'होआ' से। यदि उनको कभी साधु के पास जाने को विवश भी होना पड़ता, तो वे शीघ्र निकल भागते। आश्चर्य की बात यह है कि जहां उन्हें साधु सन्तों से इतनी अरुचि थी वहां उन्हें सर्प बड़े प्यारे थे। कहा जाता है कि उनके घर में एक बड़ा काला सांप रहा करता था। वह बहुत पुराना विषधर था। कइयों को काटकर उसने मौत के घाट उतार दिया था, परन्तु मनजी उसके मित्र थे। वे उनके साथ प्रायः खेला करते थे। केवल यह घर में रहने वाला सांप ही उनका मित्र नहीं था। गांव के कुओं में जब कोई सर्प गिर जाता था, तो भी एक मनजी ही ऐसे थे जो उसको जल से निकालने में भय के स्थान में हर्ष का अनुभव करते थे। मनजी के इन विचित्र बातों पर घर और बाहर सर्वत्र अत्यन्त

आश्चर्य किया जाता था, और लोग उनमें किसी अलौकिक शक्ति की कल्पना उस समय से ही करते थे।

इस प्रकार खेलते-कूदते मनजी के जीवन के १६ वर्ष बीत गये। सोलहवें वर्ष में एक ऐसी घटना घटी जिसकी किसी को स्वप्न में भी आशा न थी। चैत्र मास की पूर्णिमा आने वाली थी। पालीताणा (सिद्धक्षेत्र) की यात्रा के लिये कपावटी के कई नर-नारी तैयारी कर रहे थे। आस-पास के गांवों से भी मेले में जाने की पूरी तैयारियाँ हो रही थी। मनजी के मन को भी यात्रा की बात रुची, इसलिये नहीं कि वे तीर्थयात्रा के महत्व को समझते थे या उन्हें धर्म से कोई आकर्षण था, अपितु इसलिये कि उनके मन में घर से बाहर निकलने और देश-देशान्तर देखने की एक प्रवृत्ति जग उठी थी। अतएव उन्होंने ३०० मील की लम्बी यात्रा करने की मन में ठानली। घर केवल बूढे माता-पिता थे, और उनकी एक मात्र बहिन बम्बई में रहा करती थी। अतः उन्होंने गांव वालों का साथ पकड़ा और वे उन्हीं के साथ पालीताणा पहुँच गये।

दीक्षा

पालीताणा एक सिद्ध भूमि है। आदिनाथ से लेकर महावीर तक प्रायः सभी तीर्थंकरों और अनेक मुनियों के चरणों से यह भूमि पवित्र हो चुकी है। इस भूमि का कण-कण त्याग और तपस्या की स्मृति को छिपाये हुए है। इस भूमि पर तपस्या करके न मालूम कितनों ने निर्वाण-पद प्राप्त किया, यहाँ के गिरि-निर्भर, वन-उपवन आदि का कोना-कोना सत्य और अहिंसा के मूक-संदेश से गुञ्जरित हो रहा है। चाहे भौतिक-विज्ञान के श्रद्धालु इस बात पर विश्वास न करें, परन्तु यह एक अनुभव सिद्ध सत्य है कि इस प्रकार की सिद्धभूमियों का प्रभाव कभी कभी अत्यन्त आश्चर्यजनक होता है। मनजी के मन पर भी पालीताणा के सिद्धाचल का ऐसा ही विचित्र प्रभाव पड़ा। उस पवित्र भूमि पर पैर रखते ही उनके

मन में एक अपूर्व शान्ति और आनन्द का अनुभव हुआ। अपने साथियों के साथ मन्दिरों में दर्शन करते करते उन्होंने एक तीव्र विराग का अनुभव किया। शनैः शनैः वह दीक्षा की ओर आकर्षित होने लगे, परन्तु माता-पिता का स्नेह मोह-पाश होकर उनको रोक रहा था। वे सोचते थे 'माता पिता वृद्ध हैं, पिता की आँखों में मोतिया-बिन्द भी उतर रहा है। यदि मैं दीक्षा ले लेता हूँ तो उनकी सेवा कौन करेगा?' ऐसा विचार आते ही एक बार उन्होंने अपनी इच्छा के विरुद्ध घर में रहने की ही ठानी। पालीताणा के वातावरण ने विराग की जिस भावना को उनके मन में उत्पन्न कर दिया था, वह उनके लिये दुर्जेय सिद्ध हो रही थी। अतः उन्होंने शीघ्र ही वहां से जाने का निश्चय किया। वे पहाड़ से नीचे उतर ही रहे थे कि उनके मन में एक विचित्र संकल्प विकल्प होने लगा "मैं माता-पिता की सेवा के लिये घर में रहना चाहता हूँ, परन्तु यदि उनसे पूर्व मैं ही चल बसा तो? दुनिया का क्या ठिकाना।" यह सोचते ही वे फिर लौट पड़े और पहाड़ पर चढकर मन्दिर में प्रवेश करके उन्होंने भगवान के सामने ही सर्वत्याग का व्रत ले लिया।

मनजी के साथियों ने यह समाचार लौटकर उनके माता-पिता को सुनाया। ऐसा कौन माता-पिता होगा जो अपने इकलौते बेटे को सर्वदा के लिये खोने को तैयार हो। अतः वे दोनों पालीताणा पहुँचे और मनजी को बहुत कुछ समझाया, परन्तु मनजी सदा से ही धुन के बड़े पक्के थे। वे अपने निश्चय से टस से मस नहीं हुए उनका उत्तर यही था" आप पूज्य हैं। आपको सब कुछ अधिकार है, परन्तु मैं तो सर्वत्याग का व्रत ले चुका हूँ। आप मेरे शरीर को घर लौटने के लिये विवश कर सकते हैं; इस मिट्टी के पुतले के साथ जैसा चाहें व्यवहार कर सकते हैं। परन्तु आत्मा तो दीक्षा के लिये लालायित हो रही है। यदि आप अनुमति न देंगे, तो भी

मेरी आत्मा संसार में अनुरक्त हो सकेगी ?" इस बात को सुनकर कुटुम्बी जनों ने अनिच्छा होते हुए भी उन्हें दीक्षा की अनुमति दी। संवत् १९६० वैशाख शुक्ला द्वितीया को उसी सिद्धक्षेत्र में मुनि-सुमतिसागरजी महाराज के शिष्य रूप में दीक्षित होकर मनजी मुनि-मणिसागरजी बने।

दीक्षा के दो दिन पूर्व एक घटना और हुई, जिसका उनके मन पर स्थायी प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि वे एक वृद्ध मुनिराज के पास गये, वे तपगच्छीय महात्मा थे। वन्दना करके वे बैठे ही थे कि मुनिराज ने कहा—"मनजी, तुम पोरवाल जाति के हो, तुम्हारा तपगच्छीय आम्नाय है; परन्तु सुना है कि तुम मुनि सुमतिसागर-जी से दीक्षा ले रहे हो ? तुम्हें तपगच्छ छोड़कर बाहर नहीं जाना चाहिये। सुमतिसागरजी खरतरगच्छ के हैं। क्या अपने गच्छ में कोई साधु नहीं ?" मनजी को उस दिन पहिली बार मालूम हुआ कि धर्म के नाम पर मनुष्य ने कितनी भेद-बुद्धि उत्पन्न कर रखी है। वह सोचने लगे, "क्या गच्छ भी अलग अलग हैं ? क्या भिन्न भिन्न जातियों का सम्बन्ध पृथक् पृथक् गच्छों से है ? आत्म-कल्याण के मार्ग में यह भेदवाद क्यों ? आत्म-कल्याण तो एक ही है, फिर उसके मार्गों में विभिन्नता की बाधा क्यों ?' लौटकर उन्होंने मुनि-सुमतिसागरजी से पूछा कि यह खरतरगच्छ और तपगच्छ क्या पृथक् पृथक् हैं ? इन दोनों में क्या अन्तर है ? और एक ही जैन-धर्म को विभाजन करने वाले ये अनेक पन्थ कहां से आये ?" इसी समय से उनके मन में उस जिज्ञासा का बीजा-रोपण हुआ जिसने विभिन्न गच्छों की आचरणाओं तथा मान्यता-ओं के शास्त्रीय अध्ययन के रूप में व्यक्त होकर उनके जीवन को एक निश्चित दिशा प्रदान की। उनके सारे लेख और पुस्तकों के मूल में यही प्रवृत्ति विराजमान है, जिसका जन्म उक्त तपगच्छीय साधु के वचनों की ठेस लगने पर हुआ था।

म्रता प्रतीत हुई। अतएव उन्होंने गुरु की आज्ञा लेकर उस ८० पृष्ठ की पुस्तक को लगभग ३५० पृष्ठों में कर दिया। इस कार्य से उनकी कुशाग्र बुद्धि, प्रखरप्रतिभा और परिपक्वज्ञान का तो पता लगता ही है, परन्तु एक बहुत बड़ी बात जो इसके प्रकाशन से प्रकट होती है वह उनके किशोर जीवन को उदारता, निःस्वार्थपरता तथा निरहङ्कारता की उस उच्चभूमि पर प्रतिष्ठित कर देती है जिस पर बड़े बड़े वृद्ध आचार्य भी प्रायः पहुंचने में असमर्थ होते हैं। उस समय उनकी अवस्था लगभग १६ वर्ष की ही थी, और इस अवस्था वाले नवयुवक के लिये जहाँ यह स्वाभाविक है कि वह अपने विचारों की अभिव्यक्ति और विज्ञप्ति करने के लिये लालायित हो; वहां यह भी स्वाभाविक है कि वह अपने प्रतिभा-प्रसून की सुगन्ध का श्रेय स्वयं ले। परन्तु मुनि मणिसागरजी ने इस ग्रन्थ में अपना नाम कहीं भी नहीं दिया—पुस्तक का प्रकाशन स्वर्गवासी स्वामी चिदानन्दजी के नाम से ही कराया। मुनि मणिसागरजी के जीवन की यह घटना उन साहित्यिक चोरों के लिये एक विशेष शिक्षा दे सकती है जो दूसरों की प्रतिभा के बल पर 'पण्डित' बनने का प्रयत्न किया करते हैं।

दीक्षा के पश्चात् अल्पकाल में ही मुनि-मणिसागर ने तप, संयम और अध्यवसाय से अपने गुरु के हृदय में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया था और श्रावक-समुदाय भी उन्हें विशेष आदर की दृष्टि से देखने लगे थे। यही कारण था कि जब सं० १९६४ में मध्यप्रदेश के रायपुर तथा राजनन्द गांव के संघों ने मुनि सुमतिसागरजी से बहुत आग्रह किया तो गुरु-शिष्य दोनों ने पृथक होकर एक एक नगर में चातुर्मास करके दोनों संघों को कृतार्थ किया। इतनी छोटी अवस्था में गुरु से पृथक रहकर चातुर्मास करने वाले मुनियों के शायद ही और दूसरे उदाहरण मिलें। यह घटना मुनि मणिसागरजी की प्रतिभा, योग्यता और आत्मनि-

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
छगनसागरजी महाराज ने [illegible] पत्र लिखा। जिसका आशय इस
प्रकार था—"मैं वृद्ध हो चला हूँ, [illegible] मुझसे [illegible] का भार
संभाला जाता है। हरिसागर अभी छोटा है [illegible] शिष्यों
का भार भी मैं तुम्हीं पर छोड़ना चाहता हूँ अतः तुम जल्दी ही
यहां चले आओ।" इसका उत्तर मुनि सुमतिसागर जी ने अत्यन्त
विनम्र शब्दों में देते हुए गणनायक होने की असमर्थता प्रकट की।
गणनायक होने के लिये अपने छोटे गुरु भाई श्री [illegible]सागरजी का
नाम प्रस्तावित किया और मुनि-हरिसागरजी (जो कि बाद में
गणनायक जिनहरिसागरसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए) को रेल
द्वारा भेजने का आग्रह किया। यद्यपि मुनि छगनसागरजी महाराज
ने मुनि हरिसागरजी की रेल यात्रा के प्रस्ताव पर क्षोभ प्रकट
किया, परन्तु सुमतिसागर जी की दूरदर्शिता और उदारता
इससे भलीभांति प्रमाणित होती है कि उन्होंने विशेष परिस्थि-
तियों में शास्त्रविहित अपवादमार्ग के रूप में ही रेल-यात्रा की
मान्यता स्वीकार की थी।

सम्मेतशिखर में अनुष्ठान

रेलयात्रा के अपवाद की स्वीकृति मुनि-सुमतिसागरजी के लिये
कोई क्षणिक आवेश या विचार की बात न थी। उन्होंने उसकी
आवश्यकता अन्यत्र भी अनुभव की थी। उन दिनों सम्मेतशिखर-
तीर्थ का मामला बहुत जोरों पर चल रहा था। इसी तीर्थ के प्रसंग
को लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय अपनी अपनी अक्षय
धनराशि परस्पर के कलह में लुटा रहे थे। उनमें से प्रत्येक उस

तीर्थ पर केवल अपना 'एकाधिकार' स्थापित करके दूसरे को उससे वंचित रखना चाहता था। वे भूल रहे थे कि जिन बीस तीर्थंकरों के निर्वाण ने इस पुण्यभूमि को गौरव प्रदान किया है, वे दिगम्बर और श्वेताम्बर के भेदभाव से सर्वथा अपरिचित थे, और उनके लिये न केवल ये दोनों सम्प्रदाय अपितु विश्व के सारे मनुष्य भी समान थे। पारस्परिक कलह के कारण श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय इस प्रकार संभवतः यह भी भूल गये थे कि भारत की तत्कालीन गोरी सरकार इस पवित्र तीर्थ को अपनी सेना के लिये एक सूअर-खाने के रूप में परिणत करना चाह रही है। श्वेताम्बरों की ओर से पैरवी करने वाले इस समय कलकत्ता-निवासी रायबहादुर चौधरी बद्रीदासजी थे। उन्होंने जब सम्पत्ति, कानून और शक्ति के साधन को अपनी सिद्धि के लिये पर्याप्त न समझा, तो उन्हें आध्यात्मिक और आधिदैविक शक्ति की साधना आवश्यक प्रतीत हुई। उन्होंने सर्वत्र निगाह दौड़ाई, और साधु-महात्माओं से याचना की। बड़ी विषम परिस्थिति थी। जब यह प्रस्ताव मुनि सुमतिसागरजी के पास आया तो उन्होंने अपने योग्य शिष्य को इस कार्य के सम्पादन करने के लिये भेजना स्वीकार कर लिया। कार्य जल्दी का था। यदि इस समय वे राजप्रदेश से सम्मेतशिखर तीर्थ को पैदल जाते तो संभवतः दो महीने के लगभग लगते। अतः संकटकालीन परिस्थिति को देखकर यह निश्चय किया गया कि कुछ सम्भ्रान्त सज्जनों के साथ मुनि-मणिसागरजी को सम्मेतशिखर पर अनुष्ठान के करने के लिये रेल द्वारा शीघ्र भेजा जाय। अतएव राजस्थान के मान्य श्री गुलाबचन्दजी ढड्ढा एम० ए० तथा श्री धनराजजी बोथरा के साथ उनको वहां भेजा गया।

कलकत्ता में सम्मान

सम्मेतशिखर तीर्थ पर नवयुवक मुनि मणिसागरजी ने जिस तपस्या के साथ अनुष्ठान किया, उससे श्वेताम्बर समाज को बहु-मुखी सफलता तो प्राप्त हुई ही, परन्तु साथ ही मुनि-मणिसागरजी

परिकरबद्ध रक्षा करते थे। उन्होंने इस प्रस्ताव को सुनते ही अपनी स्वीकृति दे दी। यहाँ प्राचीन पुस्तकों का अभाव था, अतः मुनि मणिसागरजी ने पुस्तकों की एक लम्बी सी सूची तैयार करके सेठ बद्रीदासजी जौहरी को दी। सेठजी ने शीघ्रातिशीघ्र पाटण खम्भात आदिसे बहुत से ग्रन्थों को मंगवाया, जिनमें से अधिकांश ताड़पत्रीय और हस्तलिखित पुस्तकें थीं।

पुस्तकों के आते ही प्रथम तो उन्होंने एक छोटा सा लेख लिखा। वह लेख खरतरगच्छ के तत्कालीन प्रमुख साधुओं में आचार्य जिनयशःसूरि, मुनि-शिवजीरामजी, मुनिराजश्री कृपाचंद्र-जी, और प्रवर्तिनी साध्वी श्रीपुण्यश्रीजी के पास भेजा गया। उस समय कलकत्ता में एक तपगच्छीय साधु श्रीराजविजयजी थे। उनके पास भी इस लेख को पहुँचाया गया। इन सभी मुनियों ने इस लेख की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की, और मुनि मणिसागरजी के पाण्डित्य और परिश्रम को सराहा। अतः इन सबकी सलाह से इस लेख को प्रकाशित करवाया गया। यही लेख पश्चात् "बृहत्पर्युषणा निर्णय" नाम से लगभग एक सहस्र पृष्ठ के कलेवर में प्रकाशित किया गया।

बम्बई में

कलकत्ते से वे विचरण करते हुए बम्बई पहुँचे। वहाँ आचार्य श्रीजिनकृपाचन्द्रसूरि ने मुनि सुमतिसागरजी को उपाध्याय और मुनि मणिसागरजी को पण्डित पद प्रदान किया।

बम्बई पहुँच कर मुनि मणिसागरजी को एक गहरे संघर्ष में उतरना पड़ा। सं० १६७४ का समय था। तपगच्छीय आचार्य विजय-वल्लभसूरि का चातुर्मास भी वहीं था। पश्चात् श्रीसागरानन्दसूरि, श्रीविजयधर्मसूरि तथा रेलविहारी श्रीशान्तिविजयजी जैसे तपगच्छीय महारथी भी बम्बई में आ विराजे। तपगच्छ की ओर से

कलकत्ते वाले विवाद को फिर से उठाया गया। इसके साथ ही एक अन्य विषय पर भी विवाद छिड़ा। यह विषय था भगवान महावीर के कल्याणकों के विषय में। जैन लोग प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन में गर्भाधान से लेकर निर्वाण पर्यन्त पांच महत्त्वपूर्ण घटनाओं को लेकर उत्सव मनाया करते हैं। इन्हीं को पंचकल्याणक कहा जाता है। भगवान महावीर के पांच के स्थान पर छः कल्याणक माने जाते हैं। कुछ लोग इसका विरोध करते हैं। इन्हीं से भी उस विवाद छिड़ा, जो तपगच्छ और खरतरगच्छ में खूब पर्चेबाजी हुई। दोनों ओर से लगभग ५० पर्चे निकाले गए। जिनमें एक पक्ष ने दूसरे पक्ष के विरुद्ध अपने मत का प्रतिपादन किया था। खरतरगच्छ की ओर से सारा भार मुनि-मणिसागरजी के कन्धे पर पड़ा। उन्होंने विरोधियों को शास्त्रार्थ के लिये भी आह्वान किया परन्तु कोई भी प्रतिपक्षी शास्त्रार्थ करने का सामना न कर सका। इस सबका परिणाम यह हुआ कि खरतरगच्छ का सिक्का सदा जम गया और उस समय से उसकी मान्यताओं को अशास्त्रीय कहने का किसी ने भी प्रयत्न नहीं किया।

इन्दौर में

मुनि मणिसागरजी इस समय अपने पाण्डित्य और शास्त्रार्थ के लिये जैन-जगत में प्रसिद्ध हो चुके थे। जहाँ कहीं भी कोई शास्त्रीय विषयों पर वाद-विवाद होता वहाँ उनको अवश्य याद किया जाता। बम्बई की उक्त घटना के कुछ ही दिन बाद इंदौर में तपगच्छ के दो आचार्यों में परस्पर विवाद छिड़ा। विवाद का विषय था, 'देवद्रव्य का उपयोग'। मन्दिरों में जो धन चढ़ावे के रूप में आता है, उसको देवद्रव्य कहते हैं। साधारणतया जैन समाज में यह माना जाता है कि इस धन का उपयोग केवल भगवान के पूजन, अर्चन या उनके मन्दिर के निर्माण आदि में खर्च हो सकता है। इस द्रव्य के उपयोग का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होने के कारण, जैन-मन्दिरों में अपार धन-राशि इकट्ठी है, जिसका उपयोग

प्रतिबन्ध के कारण किसी भी सामाजिक या सांस्कृतिक योजना में नहीं हो सकता। उस समय तपगच्छ में आचार्य विजयधर्मसूरि एक उदारमना और सुधारवादी साधु थे। उन्होंने एक धनराशि को मन्दिरों से निकलवा कर साधारण उपयोग में लाने का प्रयत्न किया। आचार्य सागरानन्दसूरि ने इसका विरोध किया। और वे आचार्य विजयधर्मसूरि से शास्त्रार्थ करने इंदौर पधारे। जहां उनका काले झन्डों से स्वागत किया गया। मुनि मणिसागरजी को भी इस विषय में रुचि हुई। उन्होंने विजयधर्मसूरि से पत्र-व्यवहार किया। और उसके साथ शास्त्रचर्चा करने के लिये इन्दौर भी पधारे। जब दूसरे पक्ष की ओर से यह चर्चा बार-बार टाली जाने लगी, तो मुनि मणिसागरजी ने अपने विचारों को एकत्र कर "देवद्रव्यनिर्णयः" नामक एक पुस्तिका प्रकाशित की।

इन्दौर में ही स्थानकवासियों से

इन्हीं दिनों स्थानकवासी समुदाय के प्रसिद्धवक्ता मुनि श्री चौथमलजी इन्दौर पधारे। यहाँ उनके एक शिष्य ने 'गुरुगुणमहिमा' नामक एक पुस्तिका प्रकाशित की। जिसमें मुखवस्त्रिका को लेकर कुछ विवाद खड़ा किया गया था। स्थानकवासी साधु मुखवस्त्रिका को निरन्तर मुख पर बांधे रहते हैं, परन्तु मूर्तिपूजक साधुओं का समुदाय उसका उपयोग केवल बोलने के समय ही करते हैं। उक्त पुस्तक में मूर्तिपूजकों के इस व्यवहार की निन्दा की गई थी, और उसको शास्त्र-विरुद्ध बतलाया गया था। उन्हीं दिनों आचार्य जिनकृपाचन्द्रसूरिजी भी वहाँ पर थे। उन्होंने वहीं चातुर्मास किया था, और एक 'उपधान-तप' भी करवाया था, जिसकी पूर्णाहूति के अवसर पर उन्होंने उपाध्याय श्री सुमतिसागरजी को 'महोपाध्याय' पद और पं० मुनि-मणिसागरजी को 'पन्यास' पद प्रदान किया था। पता नहीं क्यों कुछ स्थानकवासियों को एक चाल सूझी। एक व्यक्ति उस पुस्तिका को लेकर आचार्य कृपाचन्द्रसूरिजी के उपाश्रय पर गया और उस पुस्तक को उनके सामने फेंककर बोला कि "यदि

स्वातन्त्र्यभूमि को लक्ष्य बनाया जाता है, जिसको प्राप्त करके और कुछ पाना नहीं रहता। मुनि मणिलालजी ने अपने गुरुजी के स्वर्गवास से एक सन्देश ग्रहण किया, जिसने उनको नई ज्योति दिखलाई। उन्होंने देखा कि चौदह वर्ष के निवास ने उन जैसे त्यागी पुरुष के लिये भी पाप से बन्धन उत्पन्न कर दिये हैं—अनेक भावुकों के पक्षपातिक हृदय, धर्म-ग्रन्थों के प्रकाशन का लगा हुआ अधूरा कार्य, जैन सिद्धान्त प्रेस में रक्खा गया व्याख्यान के लिये एकत्र हुआ ग्रन्थ-पुस्तकालय आदि को उन्होंने इस समय मुक्तिपथ के पथिक के लिये लौह-निगड की भाँति देखा। फलतः इस चौदह वर्ष के बन्धन को जिस दृढ़ निश्चय के साथ सदा के लिये तोड़कर उन्होंने बोटाद से विहार किया, उसको देखकर तुलसीदास-जी की वे पंक्तियाँ याद आती हैं, जो उन्होंने रामचन्द्रजी के लिये वनगमन के समय लिखी थी :—

कीर के कागर ज्यों नृपचीर विभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगबास के रूख ज्यों पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई।
संग सुबंधु पुनीत प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं॥

संभवतः पाठक लोग मुनि मणिलालजी के त्याग के विषय में यहाँ जो उल्लेख किया गया है उसको असंगत और अनावश्यक समझें, परन्तु यदि जैन-मुनि के शास्त्रीय आचार को ध्यान में रखते हुए आज के साधारण मुनियों के जीवन पर दृष्टि डाली जाय तो मेरे इस उल्लेख की उपयोगिता और उपादेयता सहज ही सिद्ध हो जायगी। मैंने देखा है कि विभिन्न नगरों में एक एक आलमारी के पुस्तकालय पर भी किसी न किसी साधु विशेष का नाम मोटे अक्षरों में अंकित मिलता है। यह तो एक मामूली बात है, [illegible]
के परिग्रहों पर तो कुछ कहना ठीक न होगा।

है। मुनि-विनयसागरजी के साथ मैंने 'जैनागम प्रकाशन' की एक योजना तैयार की। इसके अनुसार 'श्रीहिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय' का फिर से नामकरण करके इसमें एक पुस्तकमाला निकालने का विचार किया था। योजना में अनुवाद, प्रकाशन सम्बंधी अनेक नियम और संस्था का विस्तृत विधान तैयार किया गया। जब यह सब लिखा जा रहा था, तो यह विचार आया कि प्रकाशित होने वाली पुस्तकमाला का भी एक विशेष नाम रख दिया जाए। मैंने सोचा इस माला में प्रकाशित होने वाले सभी जैनागम तथा जैन साहित्य के रत्न ही होंगे। अतः इन सभी पुस्तकों को 'जिन-गिरां' समझकर पुस्तकमाला का नाम 'जिनगिरामाला' रख दिया गया। हम लोग बहुत प्रसन्न थे कि हमने इतना सुन्दर विधान बनाया और पुस्तकमाला के लिये इतना सुन्दर नाम ढूँढ लिया। हमारे विधान को महाराज की स्वीकृति के लिए पांचोडिया बड़गाम (जोधपुर स्टेट) डाक से भेजा गया। जब वहाँ से विधान की यह प्रति डाक द्वारा वापिस आई तो यह जानकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई कि हमारी यह योजना स्वीकार करली गई। परन्तु जब ध्यान से देखा तो बहुत आश्चर्य हुआ कि पुस्तकमाला का हमारा दिया हुआ प्रिय नाम 'जिनगिरामाला' खूब अच्छी तरह से काट दिया गया था।

योग–साधन

जब वे कोटा छोड़कर गए तो वे घोर साधना का उद्देश्य लेकर गये हुए प्रतीत होते हैं। साधना में सिद्ध भूमियों की बहुत बड़ी सहायता होती है। यह बात न केवल उन्होंने औरों के मुख से ही सुनी थी, अपितु वे अपने अनुभव से भी देख चुके थे। अतएव वे कोटे से पहिले भगवान आदिनाथ के दर्शन करने के लिये 'केशरियाजी' पधारे। उसके पश्चात् वे आबू गये। वहाँ उस समय तपागच्छीय आचार्य योगीराज शान्तिविजयजी विराजते थे। उनके चमत्कारों की प्रसिद्धि राजस्थान क्या विश्व में पहुँच चुकी थी।

विभिन्न स्थानों से अनेक नर-नारी उनके पास आते और अपनी इच्छा पूर्ण करके वापिस जाते थे। मुनि मणिसागरजी को भी कुछ कुतूहल हुआ। उन्होंने सोचा कि शायद यहां साधना के मार्ग में कुछ सहायता मिल जाय। अतः वे उनके पास पहुँचे। साधारणतया योगीराज शान्तिविजयजी का साधुओं पर से विश्वास उठता गया था। कारण यह था कि वे योगी थे और योगसाधन के निमित्त उन्हें कुछ साधारण क्रियाओं को शिथिल करना पड़ा था। सामान्य साधु लोग जब इस शिथिलता को देखते थे; तो निराश होते थे, और वहां से जाकर उनकी निन्दा किया करते थे। अतएव आचार्य शान्तिविजयजी सभी को अपने पास अधिक नहीं ठहरने दिया करते थे। परन्तु मुनि-मणिसागरजी में उन्होंने वास्तविक जिज्ञासा और लगन देखी। वे उनके साथ बराबर रहते रहे। कहा जाता है कि वहां रहते रहते जब तीन महीने हो गए, तो योगीराज ने एक रात्रि को उनसे कुछ बातचीत की। इसके पश्चात् प्रायः प्रति रात्रि को वे दोनों महापुरुष घंटों एक साथ बैठे रहते थे। अनुमान किया जाता है कि उन्होंने योगीराज से साधना के क्रियात्मकरूप के विषय में कुछ जानकारी अवश्य की। एक वर्ष इस प्रकार वहां व्यतीत करने के पश्चात् मुनि मणिसागरजी को ऐसा लगा कि चमत्कार के भूखे स्वार्थी संसारियों का जमघट योग-साधन में इतना अधिक बाधक हो रहा है कि उस स्थान पर आगे बढ़ना असंभव है। अतः उन्होंने वह स्थान छोड़ने का निश्चय किया।

आबू छोड़ने के पूर्व मुनि-मणिसागरजी के जीवन में एक घटना और हुई जिसका उल्लेख करना अवश्यक है। यह घटना है योगीराज शान्तिविजयजी द्वारा 'उपाध्याय' पद दिया जाना। इस घटना का महत्त्व मुनि-मणिसागरजी के लिये तो कोई अधिक नहीं है, क्योंकि उन्होंने अपने जीवन में उसका उपयोग कभी नहीं

किया, परन्तु जैनसमाज और साधु-समाज की दृष्टि से इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। इस प्रसंग में स्मरणीय यह है कि योगीराज शान्तिविजयजी तपगच्छ के थे—वही तपगच्छ जिसकी तीव्र आलोचना वे बम्बई आदि नगरों में कर चुके थे। साधारणतया देखा जाता है कि परस्पर तनिक भी विचार-विपर्यय होने पर एक समुदाय के ही साधु लोग वैर बांध लेते हैं, विभिन्न गच्छ के लोगों का तो कहना ही क्या। परन्तु मुनि मणिसागरजी शास्त्रार्थ आदि में जो भी विरोध या आलोचना करते थे, वह अपने अहंकार और 'स्वत्व' को पृथक रखकर अनासक्ति-भाव से करते थे। यही कारण था कि वे तपगच्छ की कड़ी आलोचना करने के पश्चात् भी तपगच्छीय योगीराज के पास निसंकोच गये और उनके इतने स्नेह भाजन बने। योगीराज शान्तिविजयजी ने भी मुनि मणिसागरजी की योग्यता, शक्ति और निपुणता का जो आदर किया वह विविधगच्छों के उन साधुओं के लिये एक विशेष संदेश रखता है जो छोटी छोटी बातों को लेकर परस्पर माथा-फोड़ी करते हैं और धर्म तथा संघ को बदनाम करते हैं।

हरिसागरसूरिजी से मिलाप

आबू से चलकर महाराज मणिसागरजी लोहावट पधारे। यहां आने का प्रमुख कारण था आचार्य हरिसागरजी का अत्यधिक आग्रह। आचार्य हरिसागरजी और महाराज मणिसागरजी के गुरुजी एक ही गुरु के शिष्य थे। अतः आचार्य हरिसागरजी महाराज मणिसागरजी के काका गुरु होते थे, यद्यपि वे आयु में उनसे छोटे थे। दोनों ने एक दूसरे को कभी नहीं देखा था। परन्तु आचार्य हरिसागरजी महाराज मणिसागरजी को गच्छ के 'प्राण' समझते थे और उन्हें अत्यन्त स्नेह तथा सत्कार के साथ स्मरण किया करते थे। बहुत दिन पहिले ही से वे महाराज को अपने पास आने के लिये लिख रहे थे। इस बार उन्होंने उनका अनुरोध स्वीकार

चालू ज होय। जेमगृहस्थाश्रम मां सासु, सासु पणुं भजवे छे तेम दीक्षा मां गुरु, गुरुपणुं भजवे छे। आ शुं तेमनी थोडी भूल न थाय? अलबत्त, गुरु नो विनय करवो, तेमनी आज्ञा मां सदा खडे ऊभा रहेवुं, परन्तु ते विषे तेमनी कदर होवी जोइए पण आजे ए बधुं विसराइ गयुं छे। पोते तो चार पांच बाइओना घेरा मां बेसी घरो घरनी पंचात कूटे अने विकथाओ मां उतरी पोता ना समय ने बरबाद करे छे। शिष्याओ ने भणाववानी पण जरूरत नहीं अेटले अभ्यास मां पण पछात। पंचप्रतिक्रमण कर्या ने चार आठ चोढालिया, थोडाक स्तवन सज्झायो कर्या एटले बेडा पार। पछी हां, क्यां थी वधे? गुरुणीओ भणेली होय त्यारे ने?

अज्ञानमय जीवन प्रथम थी ज हतूं ने पाछल थी पण तेम थवा पाम्युं। कलह, ईर्षा अदेखाइ, चरसा चरसी विगेरे दूषणो जीवन मां जड घाली रहेल पहेले थी ज हता। तेने दूर करवा, जीवन सुन्दर बनाववा, त्यागी बनावनार त्यागीओ तरफ थी जराये सूचना के समझाववा मां आव्युं नहीं। समयनी कठिनता, आत्मा केम उज्ज्वल बने? जीवन सुयशभी केम थाय? तेनुं एने भानज न कराव्युं। कारण एने तो घरना काममा थी मुक्त करवी हती अने चेलीनी लालसा हती, ते काम तो अहींआं पण करवुं पडे छे। कहो, हवे एना मां थी अज्ञान, कलह अने ईर्षा आदि दोषो कई रीतिए जाय?

गुरु नो विनय करवाना बाना थी साध्वीजीओ पासे थी, गृहस्थोनी जेम मुनिराजो पोताना कपड़ा धोवा, ओघा वणवा, पाठा भरवा, कामलीओ नी फोरो चीतरवी, कपड़ा सीववा अने पात्रा रंगवाना कार्यो करावे छे। जाणे नोकरडीओ राखी होय तेम एक पछी एक काम तेओ तरफ थी तैयार ज होय।

ते ओना स्वार्थी हृदय नी अजाण विचारी सरल साध्विओ एने गुरुनो अविनय थई जाय, गुरु नाराज थइ जाय ओम बीती तने फेक मने एओ ओना कार्यो करे छे। एवा कार्यो साध्विओं ना पासे थी करावचा ए शुं साधुओ ने घटित छे? आगलना साधुओ साध्विओ पासे थी सुं ए कार्यो करावता हता?

आगल वधी ए तारक गणाता गुरुओ, साध्विओ प्रत्ये आज्ञा करे छे के—साध्विओ थी सूत्र न वंचाय, व्याख्यान न अपाय। आवी रीत नी अटकायत थी साध्वजीओ संस्कृत अने मागधी अभ्यास करतां अटकी जाय छे। कारण ज्यारे सूत्रो न वांचवा होय ने व्याख्यान न आपवुं होय तो एवुं उच्च ज्ञान मेलवी शुं करे? आम निरुत्साह बनी अभ्यास मां ज्ञान मां आगल वधी शकती न थी। बल्के संयमनुं रहस्य समझवुं दूर रही जाय छे। में घणी साध्विजीओ ना मुख थी सांभल्युं छे के—अमोने व्याख्यान अने सूत्रो वांचवानी गुरु तरफ थी आज्ञा नथी जेथी व्याख्यान सांभल-वा गुरुनी साथे ज चौमासा करीए छीए। ज्यारे पूछवामां आवे के दर रोज व्याख्यान मां जाओछो? त्यारे दुखी हृदये जवाब आपी कहे के काम न होय तो जइए। आथी सांभलनार ने आश्चर्य थया विना नहीं रहे। शुं मुनिराजो पोताना कार्यो करावचा साध्विओ ने साथे चोमासुं करावता हशे? आवा कारणों ने लई क्रमे परिचय वधतो जाय छे अने छेवटे अति परिचय ना योगे जैन-शासन ने लजव-नारी गंदी वातो बहार आवे छे।

हजु पण पूज्य मुनि महाराजो समजे अने साध्विओ उपर थी पोताना कार्यो नो बोजो उतारे तेमज व्याख्यान अने मत बांचवानी छूट आपे, अभ्यास वधारवा खास भलामण करे तो आज नुं वातावरण (अज्ञान, कुसंप, कलह कुथल विगेरे) फरी जतां वार लागशे नहीं । पछी समाज जोई शकशे के साध्वी-संस्था केटलुं कार्य करी शके छे अने समाज ने केवी उपयोगी थाय छे आगलनी महासती शिरोमणि साध्वीजीओ ज्ञान में वधेली होवा थी चरित्र थी भ्रष्ट थतां मोटा ऋषिओ ने पण सद्बोध थी मार्ग ऊपर लावी शक्या छे । एवा अनेक दाखलाओ मौजूद छे । ते आजे कोई ना थी अजाण्युं नथी ।

ते शक्ति आज पण नाश पामी नथी । जो तेने पुरती सगवडो करी देवा मां आवे तो निस्तेज बनेली शक्ति सतेज बने एमां कांई आश्चर्य नथी ।

आज श्रावको पण साधुओ ना भरमाव्या थी जेम के 'पुरुष पद प्रधान छे ने स्त्री नीची छे' तेथी साध्वियो प्रत्ये बहूज ओछी लागणी धरावे छे । तेमना व्याख्यान श्रवण थी पण श्रावको अभडाइ जाय छे । खरुं पूछो तो साध्वीजी प्रत्ये भाग्येज कोई पूज्य-भाव धरावता हशे । साधुओ ने भणाववा माटे सौ सौ रुपया ना पगारदार पंडितो त्यारे साध्विओ माटे पांचनो ए नहीं । आशुं ओछी संकुचित दृष्टि कहेवाय ।

महाराज मणिसागरजी के इस पवित्र प्रयत्न की पृष्ठ-भूमि में एक बात और विचारणीय है। वह है साध्वी और नारी समाज के साथ उनका सम्बन्ध। वे साध्वियों से अपनी कोई सेवा कभी नहीं कराते थे। जहां कि बहुत से साधु साध्वियों को अपनी सेविका मात्र समझकर उनसे अपने कपड़े लत्ते धुलवाने आदि का काम करवाते हैं, वहां मुनि मणिसागरजी का सदा यही नियम रहा कि वे साध्वी-समाज से सदा दूर रहे और जब कोई साध्वी उचित समय वन्दनार्थ आवे तो उसका समुचित सत्कार के साथ स्वागत और विदा करें। इस विषय में एक घटना विशेष उल्लेखनीय है। महाराज एक बार जयपुर पधारे। वहां साधुओं और साध्वियों के उपाश्रय बिल्कुल निकट हैं। यह बात जानकर उन्होंने न केवल उस उपाश्रय में चातुर्मास करना अस्वीकार कर दिया अपितु यह भी नियम बनवाया कि साधु लोग उस उपाश्रय में न ठहराये जावें। यद्यपि यह नियम आगे चला नहीं, परन्तु मुनि मणिसागरजी के प्रयत्न का महत्त्व इससे कम नहीं होता। सं० २००० में जब वे बीकानेर गये तो वहां सुगनजी के उपाश्रय में उनके ठहराने का प्रबन्ध किया गया। उस उपाश्रय में सदा स्त्री-समाज का अधिकार रहता है। वहीं वे प्रतिक्रमण आदि करतीं और वहीं प्रायः पड़ी रहती हैं। यह बात जानकर उन्होंने उस स्थान पर चातुर्मास करना अस्वीकार कर दिया और दूसरे स्थान पर ठहरे। मुनि मणिसागर-जी ने साध्वियों और स्त्रियों के साथ व्यवहार करने में सदैव शास्त्र एवं लोक की मर्यादा को कभी भी भंग नहीं होने दिया। परंतु साथ ही उनके प्रति होने वाले अन्यायों और अत्याचारों के लिये भी सजग रहे।

उपधान तप

मुनि मणिसागरजी को अपने अनुभव से यह ज्ञात हो चला था कि साधुओं और साध्वियों में व्रताचार और कर्त्तव्य भाव का उच्च आदर्श तब तक नहीं हो सकता जब तक कि साधारण श्रावक

हजु पण पूज्य मुनि महाराजो समजे अने साध्विओ उप थी पोताना कार्यो नो बोजो उतारे, तेमज व्याख्यान अने सूत्र वांच वानी छूट आपे, अभ्यास वधारवा खास भलामण करे तो आज नुं वातावरण (अज्ञान, कुसंप, कलह कुथल विगेरे) फरी जतां वार लागशे नहीं। पछी समाज जोई शकशे के साध्वी-संस्था केटलुं कार्य करी शके छे अने समाज ने केवी उपयोगी थाय छे आगलनी महा सती शिरोमणि साध्वीजीओ ज्ञान में वधेली होवा थी चरित्र थी भ्रष्ट थतां मोटा ऋषिओ ने पण सद्बोध थी मार्ग ऊपर लावी शक्या छे। एवा अनेक दाखलाओ मौजूद छे। ते आजे कोई ना थी अजाण्युं नथी।

ते शक्ति आज पण नाश पामी नथी। जो तेने पुरती सगवडो करी देवा मां आवे तो निस्तेज बनेली शक्ति सतेज बने एमां कांई आश्चर्य नथी।

आज श्रावको पण साधुओ ना भरमाव्या थी जेम के 'पुरुष पद प्रधान छे ने स्त्री नीची छे' तेथी साध्वियो प्रत्ये बहुज लागणी धरावे छे। तेमना व्याख्यान श्रवण थी पण श्रावको डरी जाय छे। खरुं पूछो तो साध्वीजी प्रत्ये भाग्येज पूज्य-भाव धरावता हशे। साधुओ ने भणाववा माटे सौ सौ ना पगारदार पंडितो त्यारे साध्विओ माटे पांचनो ए नहीं। आ ओछी संकुचित दृष्टि कहेवाय।

हजू ए श्रावको चेते अने साध्वियो ने बहुमान नी दृष्टि जुए। साध्वीजीओ ना चौमासा अलग करावे अने तेमने अभ्यास माटे पुरती करे। जो साध्वी संस्था सुधरशे तो जरूर स्त्री-वर्ग सुधर वानो संभव रहे। तेनी प्रजा पण बाहोश बनशे, जो आम थ खरेखर भविष्य मां जैन समाज सारी पायरीए आवी शकशे आशा राखवी अस्थाने नथीज।"

महाराज मणिसागरजी के इस पवित्र प्रयत्न की पृष्ठ-भूमि में एक बात और विचारणीय है। वह है साध्वी और नारी समाज के साथ उनका सम्बन्ध। वे साध्वियों से अपनी कोई सेवा कभी नहीं कराते थे। जहां कि बहुत से साधु साध्वियों को अपनी सेविका मात्र समझकर उनसे अपने कपड़े लत्ते धुलवाने आदि का काम करवाते हैं, वहां मुनि मणिसागरजी का सदा यही नियम रहा कि वे साध्वी-समाज से सदा दूर रहे और जब कोई साध्वी उचित समय वन्दनार्थ आवे तो उसका समुचित सत्कार के साथ स्वागत और विदा करें। इस विषय में एक घटना विशेष उल्लेखनीय है। महाराज एक बार जयपुर पधारे। वहां साधुओं और साध्वियों के उपाश्रय बिल्कुल निकट हैं। यह बात जानकर उन्होंने न केवल उस उपाश्रय में चातुर्मास करना अस्वीकार कर दिया अपितु यह भी नियम बनवाया कि साधु लोग उस उपाश्रय में न ठहराये जावें। यद्यपि यह नियम आगे चला नहीं, परन्तु मुनि मणिसागरजी के प्रयत्न का महत्त्व इससे कम नहीं होता। सं० २००० में जब वे बीकानेर गये तो वहां सुगनजी के उपाश्रय में उनके ठहराने का [illegible] गया। उस उपाश्रय में सदा स्त्री-समाज का अधिकार [illegible] क्रमण आदि करतीं और वहीं प्रायः पड़ी रहती [illegible] उन्होंने उस स्थान पर चातुर्मास करना [illegible] र दूसरे स्थान पर ठहरे। मुनि मणिसागर- [illegible] स्त्रियों के साथ व्यवहार करने में सदैव [illegible] र्यादा को कभी भी भंग नहीं होने दिया। परंतु [illegible] ने वाले अन्यायों और अत्याचारों के लिये

उपधान तप

[illegible] जी को अपने अनुभव से यह ज्ञात हो चला [illegible] साध्वियों में व्रताचार और कर्त्तव्य भाव का [illegible] हीं हो सकता जब तक कि साधारण श्रावक

महाराज मणिसागरजी के इस पवित्र जीवन की पृष्ठभूमि में एक बात और विचारणीय है। वह है साध्वी और नारी समाज के साथ उनका सम्बन्ध। वे साध्वियों से अपनी कोई सेवा कभी नहीं कराते थे। जहां कि बहुत से साधु साध्वियों को अपनी सेविका मात्र समझकर उनसे अपने कपड़े लत्ते धुलवाने आदि का काम करवाते हैं, वहां मुनि मणिसागरजी का सदा यही नियम रहा कि वे साध्वी-समाज से सदा दूर रहे और जब कोई साध्वी उचित समय वन्दनार्थ आवे तो उसका समुचित सत्कार के साथ स्वागत और विदा करें। इस विषय में एक घटना विशेष उल्लेखनीय है। महाराज एक बार जयपुर पधारे। वहां साधुओं और साध्वियों के उपाश्रय बिल्कुल निकट हैं। यह बात जानकर उन्होंने न केवल उस उपाश्रय में चातुर्मास करना अस्वीकार कर दिया अपितु यह भी नियम बनवाया कि साधु लोग उस उपाश्रय में न ठहराये जावें। यद्यपि यह नियम आगे चला नहीं, परन्तु मुनि मणिसागरजी के प्रयत्न का महत्त्व इससे कम नहीं होता। सं० २००७ में जब वे बीकानेर गये तो वहां सुगनजी के उपाश्रय में उनके ठहराने का प्रबन्ध किया गया। उस उपाश्रय में सदा स्त्री-समाज का अधिकार रहता है। वहीं वे प्रतिक्रमण आदि करतीं और वहीं प्रायः पड़ी रहती हैं। यह बात जानकर उन्होंने उस स्थान पर चातुर्मास करना अस्वीकार कर दिया और दूसरे स्थान पर ठहरे। मुनि मणिसागरजी ने साध्वियों और स्त्रियों के साथ व्यवहार करने में सदैव शास्त्र एवं लोक की मर्यादा को कभी भी भंग नहीं होने दिया। परंतु साथ ही उनके प्रति होने वाले अन्यायों और अत्याचारों के लिये भी सजग रहे।

उपधान तप

मुनि मणिसागरजी को अपने अनुभव से यह ज्ञात हो चला था कि साधुओं और साध्वियों में व्रताचार और कर्त्तव्य भाव का उच्च आदर्श तब तक नहीं हो सकता जब तक कि साधारण श्रावक

महाराज मणिसागरजी के इस पवित्र प्रयत्न की पृष्ठभूमि में एक बात और विचारणीय है। वह है साध्वी और नारी समाज के साथ उनका सम्बन्ध। वे साध्वियों से अपनी कोई सेवा कभी नहीं कराते थे। जहां कि बहुत से साधु साध्वियों को अपनी सेविका मात्र समझकर उनसे अपने कपड़े लत्ते धुलवाने आदि का काम करवाते हैं, वहां मुनि मणिसागरजी का सदा यही नियम रहा कि वे साध्वी-समाज से सदा दूर रहें और जब कोई साध्वी उचित समय-वन्दनार्थ आवे तो उनका समुचित सत्कार के साथ स्वागत और विदा करें। इस विषय में एक घटना विशेष उल्लेखनीय है। महाराज एक बार जयपुर पधारे। वहां साधुओं और साध्वियों के उपाश्रय बिलकुल निकट हैं। यह बात जान कर उन्होंने न केवल उन उपाश्रय में चातुर्मास करना अस्वीकार कर दिया अपितु यह भी नियम बनवाया कि साधु लोग उन उपाश्रय में न ठहराये जावें। यद्यपि यह नियम आगे चला नहीं, परन्तु मुनि मणिसागरजी के प्रयत्न का महत्त्व इससे कम नहीं होता। सं० २००० में जब वे बीकानेर गये तो वहां मुनिजी के उपाश्रय में उनके ठहराने का प्रबन्ध किया गया। उस उपाश्रय में सदा स्त्री-समाज का अधिकार रहता है। वहीं वे प्रतिक्रमण आदि करतीं और वहीं प्रायः पड़ी रहती हैं। यह बात जानकर उन्होंने उस स्थान पर चातुर्मास करना अस्वीकार कर दिया और दूसरे स्थान पर ठहरे। मुनि मणिसागर-जी ने साध्वियों और स्त्रियों के साथ व्यवहार करने में सदैव शास्त्र एवं लोक की मर्यादा को कभी भी भंग नहीं होने दिया। परंतु साथ ही उनके प्रति होने वाले अन्यायों और अत्याचारों के लिये भी सजग रहे।

उपधान तप

मुनि मणिसागरजी को अपने अनुभव से यह ज्ञात हो चला था कि साधुओं और साध्वियों में व्रताचार और कर्तव्य भाव का उच्च आदर्श तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि साधारण श्रावक

महाराज मणिसागरजी के इस पवित्र प्रयत्न की पृष्ठभूमि में एक बात और विचारणीय है। वह है साध्वी और नारी समाज के साथ उनका सम्बन्ध। वे साध्वियों से अपनी कोई सेवा कभी नहीं कराते थे। जहां कि बहुत से साधु साध्वियों को अपनी सेविका मात्र समझकर उनसे अपने कपड़े तक धुलवाने आदि का काम करवाते हैं, वहां मुनि मणिसागरजी का सदा यही नियम रहा कि वे साध्वी-समाज से सदा दूर रहे और जब कोई साध्वी उचित समय वन्दनार्थ आवे तो उसका समुचित सत्कार के साथ स्वागत और विदा करें। इस विषय में एक घटना विशेष उल्लेखनीय है। महाराज एक बार जयपुर पधारे। वहां साधुओं और साध्वियों के उपाश्रय बिल्कुल निकट हैं। यह बात जानकर उन्होंने न केवल उस उपाश्रय में चातुर्मास करना अस्वीकार कर दिया अपितु यह भी नियम बनवाया कि साधु लोग उस उपाश्रय में न ठहराये जावें। यद्यपि यह नियम आगे चला नहीं, परन्तु मुनि मणिसागरजी के प्रयत्न का महत्त्व इससे कम नहीं होता। सं० २००० में जब वे बीकानेर गये तो वहां सुगनजी के उपाश्रय में उनके ठहराने का प्रबन्ध किया गया। इस उपाश्रय में सदा स्त्री-समाज का अधिकार रहता है। वहीं वे प्रतिक्रमण आदि करतीं और वहीं प्रायः पड़ी रहती हैं। यह बात जानकर उन्होंने इस स्थान पर चातुर्मास करना अस्वीकार कर दिया और दूसरे स्थान पर ठहरे। मुनि मणिसागरजी ने साध्वियों और स्त्रियों के साथ व्यवहार करने में सदैव शास्त्र एवं लोक की मर्यादा को कभी भी भंग नहीं होने दिया। परन्तु साथ ही उनके प्रति होने वाले अन्यायों और अत्याचारों के लिये भी सजग रहे।

उपधान तप

मुनि मणिसागरजी को अपने अनुभव से यह ज्ञात हो चला था कि साधुओं और साध्वियों में व्रताचार और कर्त्तव्य भाव का उच्च आदर्श तब तक नहीं हो सकता जब तक कि साधारण जनता

विरुद्ध उन्हें शिष्यरूप में स्वीकार करना पड़ा था उसके आग्रह को वे इस बार भी न टाल सके। इसमें उनके मन में एक और भावना ने भी काम किया। वे उस समय लगभग ६० वर्ष के थे। अतः वे चाहते थे कि उनके शिष्य विनयसागर के संग-साथ के लिये एक आधा शिष्य हो जावे तो भविष्य के लिये अच्छा ही होगा। अतः उन्होंने उन तीनों व्यक्तियों को दीक्षा प्रदान करके उनके क्रमशः मुनिभक्तिचन्द्र, मुनि गौतमचन्द्र, और मुनि गुणचन्द्र नाम रखे।

मेरा प्रथम-मिलन

कोटा के इस चातुर्मास में ही मुझे आचार्य जिनमणिसागर-सूरिजी के दर्शन का प्रथम और अन्तिम अवसर प्राप्त हुआ। एक दिन मेरे परममित्र श्री हरिवल्लभजी ने सहसा आकर मुझे एक जैनाचार्य के दर्शनार्थ चलने को कहा। मैं साधु-संतों से प्रायः दूर ही रहा करता था, क्योंकि मेरी कुछ ऐसी धारणा बन चली थी कि उनमें केवल वेश के अतिरिक्त पूजा के लिये और कुछ भी नहीं रह गया है। परन्तु, उस समय मैं अपने मित्र का आग्रह टाल न सका। जब मैं वहाँ पहुँचा, तो मैंने देखा कि एक पट्टे के ऊपर एक कृशकाय तपस्वी विराजमान थे। उनके मुख पर शान्ति की कान्ति थी और नेत्रों में एक अपूर्व आकर्षण। मेरा दर्प झुक गया और मैंने उन्हें भूमि पर झुक कर प्रणाम किया। पट्टे के पास ही उनके प्रमुख शिष्य मुनि विनयसागरजी भूमि पर बैठे हुए थे। कुछ मिनटों तक ही चर्चा चल पाई थी कि नगर के कुछ प्रमुख श्रावक किसी झगड़े को लेकर आगये और उसके फलस्वरूप मुझे वहाँ से उठना पड़ा।

आचार्य का आदर्श

मैं इस घटना को भूल चुका था। सहसा लगभग एक वर्ष बाद मुझे आचार्य जिनमणिसागरसूरि का कृपापत्र मिला। मुझे इस पत्र को देखकर आश्चर्य हुआ और उससे भी अधिक आश्चर्य हुआ उसको पढ़कर। उसमें जो लिखा था उसका आशय यह था—"विनय-सागर अध्ययन के लिये कोटा आ रहा है। वह आपके ही संरक्षण

श्रद्धालु बन गया। मेरे संरक्षण में रहने से मुनि विनयसागर को कोई विशेष प्राप्ति तो शायद ही हुई हो, परन्तु मुझे उनसे जो मिला उसके लिये मैं महाराज जिनमणिसागरसूरि का सदैव ऋणी रहूँगा।

आचार्यदेव का निधन

इन्हीं दिनों आचार्य जिनमणिसागरसूरिजी जोधपुर के क्षेत्र में विहार करते करते अपनी जन्मभूमि के निकट पहुँचे। वहां मालवाड़ा में उन्होंने एक उपधान तप करवाया। मुनि विनयसागरजी उस समय परीक्षा के लिये जयपुर गये हुए थे। कोई स्वप्न में भी आशा न थी कि वे उस तप के मालारोपण महोत्सव में सम्मिलित हो सकेंगे। परन्तु, किसी अदृष्ट प्रेरणा से वे वहाँ पहुँचे और वहाँ उन्हें 'उपाध्याय' पद अपने गुरु के पवित्र हाथों से ही प्राप्त हुआ। कुछ लोगों ने कहा कि इतनी शीघ्रता की आवश्यकता न थी; परन्तु वे नहीं जानते थे कि उसके पश्चात् स्वगुरु के कर कमलों से यह प्रसाद मिलना असम्भव था।

उपाध्याय पद प्राप्त करने के पश्चात् मुनि विनयसागरजी जयपुर फिर लौटे। उस समय उन्होंने गुरुजी से जो उपदेश प्राप्त किया, उसमें कोई भावी आशंका स्पष्ट लक्षित होती थी। उन्होंने कहा—"मैंने गुणु (मुनि गुणचन्द्र) को जैसे सँभाला, वैसे ही तुम भी सँभालना। तुम्हारे जीवन में जैसा अवसर आवे, वैसा करना, सत्य और ब्रह्मचर्य का सदा ध्यान रखना; सत्य और ब्रह्मचर्य ही सारी क्रियाओं का मूलाधार है।" इसके पश्चात् लगभग डेढ़ महीने बाद छः फरवरी सन् १९५१ को वे इस असार संसार को छोड़ गये। मृत्यु से आठ रोज पूर्व ही वे अपने पास की पुस्तकों आदि को मुनि विनयसागरजी के पास जयपुर भेज चुके थे। परन्तु, यह कौन जानता था कि यह सब उसी महाप्रयाण की तैयारी थी।

आचार्य जिनमणिसागरसूरिजी के देहावसान से खरतरगच्छ का ही नहीं; अपितु समस्त जैन-समाज से एक बहुत बड़ा महापुरुष

ऐसा भी हुआ कि उन बीमारों को उनके सभी साथियों ने छोड़ दिया, परन्तु जब महाराज को इसका पता चला तो उन्होंने शीघ्र ही उनकी चिकित्सा की व्यवस्था की और सेवा-सुश्रूषा द्वारा उनके प्राण बचाये।

स्वदेशी आंदोलन से भी वे बहुत प्रभावित हुये थे। यद्यपि उसमें उन्होंने कोई विशेष भाग तो नहीं लिया था और न ऐसा करना उनके लिये संभव ही था, परन्तु स्वयं खादी ही धारण करते रहे। जब गांधीजी ने खादी पर प्रतिबन्ध लगा दिया और वह चरखा न कातने वालों के लिये साधारणतया अप्राप्य होगई, तो उन्होंने मोटा से मोटा कपड़ा पहना। यह बात इसलिये और भी उल्लेखनीय है कि उनको मूल्यवान से मूल्यवान वस्त्र पहनाने के लिये उनके भक्त सदा ही लालायित रहते थे और इसके लिये उनसे अनेक आग्रह भी करते थे। परन्तु, उनकी प्रकृति जितनी सरल थी, उतनी ही उनकी रहन-सहन भी। उदारता, क्षमा, तपस्या और तितीक्षा जैन-धर्म की विशेषतायें हैं और इनका सबसे अच्छा परिपाक यदि मैंने कहीं देखा, तो आचार्य जिनमणिसागरसूरि में। ऐसे महापुरुष के संपर्क में आकर और उनका जीवनवृत्त लिखकर मैं अपने को धन्य मानता हूँ।

फतहसिंह

देवार्चन–एक दृष्टि

श्रीजिनाय नमः

मूर्ति-पूजा तो देवता भी करते हैं

जैनधर्म में देवताओं की प्रतिमा का पूजन करने के सम्बन्ध में दो मत हैं—एक स्थानकवासी-प्रतिमा पूजन को धर्मानुकूल नहीं मानते; दूसरे मूर्तिपूजक—इसे शास्त्र-विहित मानते हैं। प्रतिमा-पूजन के विरोध में स्थानकवासियों की जो शंकाएँ और आपत्तियाँ हैं, उन्हें यहाँ शास्त्रों के आधार पर निवारण करने का प्रयत्न किया जाता है।

पहली शंका—जिन-प्रतिमा की पूजा करना अनादि मर्यादा के अनुसार देवों का जीत-आचार कल्प (कुलक्रम) है, कर्त्तव्य करणी है, इसलिये वे पूजा करते हैं, परन्तु उसमें धर्म नहीं है।

समाधान—यह असत्य है। क्योंकि जैसे मिथ्यात्वी देव लोगों को कष्ट देते हैं, रोग फैलाते हैं, प्राणियों का नाश करते हैं, वैर लेते हैं, सङ्गमदेव की तरह तीर्थंकर व मुनियों को उपसर्ग करते हैं, इन सब कार्यों में दुष्ट परिणाम रहते हैं, उससे अधर्म होता है, कर्म बँधते हैं, संसार बढ़ता है। वैसे ही सम्यक्त्वी देव तीर्थंकर भगवान के जन्म, दीक्षा आदि के महोत्सव करते हैं, समवसरण की रचना करते हैं, १६ अतिशय करके हजार योजन का इन्द्रध्वज फहराते हैं, छत्र, चामर करते हैं, पुष्प वृष्टि करके भगवान के आगे देव दुन्दुभि बजाते हैं और कोई दुष्ट पुरुष सती का शील भङ्ग करता हो या राजादि सङ्घ को विनष्ट करते हों तब उसका निवारण करके सती की तथा संघ की रक्षा करते हैं। भगवान के जन्म, दीक्षा आदि कल्याणकों में नन्दीश्वर द्वीप में शाश्वत चैत्यों में जाकर जिन-प्रतिमा के आगे महोत्सव करते हैं। जिन-प्रतिमा की पूजा करके शक्रस्तव (नमुत्थुणं) करने के बाद जिन

इसलिए हठवाद को छोड़कर देवताओं की की हुई जिन पूजा में धर्म मानना ही शास्त्रीय है। जीत आचार के नाम से पूजादि का निषेध करना किसी भी प्रकार संगत नहीं कहा जा सकता।

दूसरी शंका—यदि जिन-प्रतिमा की पूजा में धर्म कहते हो तो मिथ्यात्वी, अभव्य आदि सर्व देव-देवी जिन-प्रतिमा की पूजा करते हैं। उन सब को धर्म होना चाहिए।

समाधान—यह भी नासमझी की बात है। देखो, साधु का शुद्ध संयम धर्म मोक्ष देने वाला है। तो भी इसको कोई शुद्ध भाव से अङ्गीकार करते हैं, कोई पूजा मान्यता के लिये साधु होते हैं। कोई राजा, सेठादि की देखा-देखी साधु होते हैं। कोई पेट भरने के लिये साधु होते हैं। कोई भय, शोक, मोह आदि कारणों से साधु होते हैं। कोई साधुओं के अवगुण (छिद्र) देखने के लिये साधु होते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी, अभव्य आदि सब कोई साधु होते हैं। परन्तु सबको मोक्ष नहीं मिलता। जैसी जिसकी भावना होती है, वैसा ही उसको फल मिलता है। तो भी साधु धर्म तो मोक्ष देने वाला अवश्य ही है। इसी प्रकार जिन-प्रतिमा की पूजा भी जिनराज के नाम-गोत्र को याद कराने वाली, जिनराज के ज्ञानादि अनन्त गुणों का स्मरण-ध्यान कराने वाली, संसारी मोहमाया के दुर्ध्यान को दूर करने वाली तथा वैराग्य उत्पन्न करने वाली होने से, अशुभ कर्मों का नाश करने वाली है। शुभ पुण्य प्रकृति को बढ़ाने वाली तथा सम्यक्त्व की शुद्धि करने वाली होने पर परम्परा से मोक्ष देने वाली अवश्य कही जाती है।

तीसरी शंका— धर्म कार्य तो हमेशा करना चाहिये। यदि जिन-प्रतिमा की पूजा में धर्म होता तो देवता बार बार पूजा करते पर वे एक ही बार पूजा करते हैं, बारम्बार नहीं करते। [illegible] जिन प्रतिमा की [illegible] में धर्म नहीं है।

[illegible]

भगवान के सामने नाटक करने में तीर्थंकर भगवान के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि अनन्तगुणों का ध्यान होता है। जिससे कभी तीर्थंकर भगवान की आत्मा के और नाटक करने वाले की आत्मा के [illegible] से अभेद भाव की ध्यान धारा (एकता का विचार) में तल्लीनता हो जाती तो प्रतिवासुदेव रावण की तरह तीर्थंकर गोत्र बांध लेते या [illegible] की तरह कर्म क्षय करके—केवलज्ञान प्राप्त करके अथवा भवान्तर में अवश्य मोक्षगामी हो जावे। इसलिये भगवान के गुणों का नाटक करने में निस्संदेह शुद्ध धर्म की प्राप्ति अवश्य होती है। इस प्रकार शुद्ध धर्म कार्य को अधम ठहराने वाले, तत्वज्ञान से रहित होने से भगवान की भक्ति में तथा भक्त जीवों के आत्म कल्याण में अंतराय डालने का कर्म बांधते हैं।

जो देव या मनुष्य भाव सहित भगवान के सामने या भगवान की प्रतिमा के सामने भगवान के गुणों का नाटक करेगा, उसका चार गति में भटकने रूप भवनाटक अवश्य ही दूर होगा। नाटक के ऐसे महान् लाभ का, पक्षपात छोड़कर शान्त चित्त से न्याय बुद्धि पूर्वक विचार करेगा, वह भव्य जीव भगवान के आगे नाटक करने का कभी भी निषेध नहीं करेगा। जिस धर्म कार्य में पाप कर्म का क्षय होता है और आत्मा के शुद्ध गुण प्रगट होते हैं,

वैसे उत्तम धर्म कार्य में भगवान की आज्ञा अवश्य ही होती है। इसलिये भगवान के गुणों के नाटक में धर्म का लाभ होता है। ऐसे शुभ नाटक में भगवान की आज्ञा ही है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

छठी शंका—देवताओं को "नो धम्मिआ" यानी देवताओं में धर्म नहीं है, ऐसा कहा है। तो फिर जिन प्रतिमा की पूजा, नाटक आदि में धर्म कैसे माना जाय?

समाधान—यह भी नासमझी की वात है। देखो—अव्रति, सम्यक्दृष्टि श्रेणिक आदि को सर्व विरति, संयम धर्म का उदय नहीं आता, जिससे पाँच महाव्रत रूप संयम धर्म की अपेक्षा से 'नो धम्मिआ' कहसकते हैं। परन्तु विविध प्रकार से जिन प्रतिमा की पूजा इत्यादि, जिनेश्वर भगवान की भक्ति करना तथा शुद्ध श्रद्धा से समसंवेग आदि गुण सहित क्षायक सम्यक्त्व का आराधन करते हुए उत्कृष्ट भाव पूर्वक चतुर्विध संघ की सेवा करना और सर्व जीवों को दुःखों से छुड़ाकर सव को सुखी और धर्मी वनाने की भावना करना, इत्यादि चौथे गुण ठाणों के कर्तव्य करते हुए यावत् तीर्थंकर गोत्र वांध लेते हैं। उससे उनको दृढ़ धर्मी कह सकते हैं। इसी तरह से देवताओं को भी सर्वविरति संयमधर्म का पालन नहीं करने की अपेक्षा से 'नो धम्मिआ' कहते हैं। परन्तु जिनप्रतिमा की पूजा करना, भगवान की या गणधर आदि गुरुओं की धर्म देशना सुनना नाटक करना, संघ की सेवा करना इत्यादि कार्यों से चौथे गुण ठाणे की अपेक्षा से दृढ़धर्मी कह सकते हैं और जिनेश्वर भगवान के कथनानुसार न्यायपूर्वक तत्वदृष्टि से विचार किया जावे तो नरक गति में, तिर्यंचगति में, मनुष्य गति में और देवगति में सम्यक्त्व की अपेक्षा से चारों गतियों में धर्म है। नरक में और तिर्यंच में सम्यग्दृष्टि जीव समताभाव से भूख, तृषा, शीत, उष्ण आदि कष्ट सहन करते हैं। जिससे शुभ भावना से समय २ कर्मों की अनन्त

निर्जरा होती है (कर्मों का क्षय होना) जिससे भवान्तरों में (दूसरे भव में) शुद्ध धर्म प्राप्त करके मोक्ष जाते हैं। इसलिए जो सच्चा जैनी होगा वह तो नरक, तिर्यंच में उनके उन्नत धर्म का निषेध कभी नहीं करेगा। तो फिर दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना करके देव-लोक में जाने वाले तथा एक भव करके मोक्ष में जाने वाले या थोड़े से भव करके मोक्ष में जाने वाले निर्मल अवधिज्ञानी, शुद्ध सम्यक्-त्वी जिनेश्वर भगवान की परम उत्कृष्ट विनय सहित भक्ति करने वाले ऐसे इन्द्रादि महान् धर्मी देव-देवियों को धर्म रहित अधर्मी ठहराना यह तो सरासर दिन दोपहर को काली रात्रि कहने जैसा प्रत्यक्ष मिथ्या वचन किसी को भी बोलने योग्य नहीं है।

सातवीं शंका—जब भगवान के सामने सूर्याभदेव ने नाटक करने की आज्ञा मांगी, तब भगवान ने आज्ञा नहीं दी, मौन रहे इससे भी नाटक भगवान की आज्ञा में नहीं है।

समाधान—यह भी तर्क सम्मत नहीं है। देखो—जिस तरह किसी साधु के व्याख्यान की सभा में आकर, उनका भक्त कहने लगे-'हे साधुजी, मैं आपके गुण इस सभा के सामने सबको सुनाना चाहता हूँ। आप मुझ को आज्ञा दें।' यह बात सुनकर यदि वह साधु विवेकवान होगा तो अपने गुणों की स्तुति करने की आज्ञा, अपने भक्त को कभी नहीं देगा। और सभा के लोगों को भक्ति दिखलाने की अन्तराय देने के लिये मनाई भी नहीं करेगा। किन्तु मौन ही रहेगा। तब वह भक्त यह समझेगा कि साधुजी मना नहीं करते हैं। इसलिए उनकी आज्ञा ही है। वह सभा के सामने अपनी भक्ति बतलाने लगेगा। इससे उसकी भक्ति साधु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं हो सकती। किन्तु आज्ञा के अन्दर ही मानी जावेगी। इसी तरह से भगवान के सामने सूर्याभदेव आकर विनती करने लगा कि—"हे भगवन्! आपतो केवलज्ञान से, केवल दर्शन से, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार, भूत, भविष्य और वर्तमानों के सर्व भाव जानते हैं तथा

देखते हैं। मुझे जिस धर्म के प्रताप से यह देव-ऋद्धि, देव-शक्ति, देव समृद्धि प्राप्त हुई, उसको भी आप जानते हैं तो भी मैं आपकी भक्ति के लिये गौतम आदि साधु-साध्वियों को मेरी देव-शक्ति से ३२ प्रकार का नाटक दिखलाता हूँ। सर्वज्ञ भगवान् तो जानते ही थे कि यह सूर्याभदेव मेरी भक्ति के लिए नाटक में मेरा ही चरित्र, मेरा ही स्वरूप, मेरे ही कर्तव्य वतलाने वाला है। इसलिये साधु के उपर्युक्त दृष्टान्त की तरह भगवान ने भी सूर्याभदेव को आज्ञा नहीं दी और भक्ति की अन्तराय डालने के लिए मनाई भी नहीं की। किन्तु मौन रहे। सूर्याभदेव ने भगवान् की आज्ञा समझ करके ही नाटक किया था, इसलिए सूर्याभदेव ने नाटक किया; वह भगवान की आज्ञा में ही समझना चाहिए।

दूसरी बात यह भी है कि महावीर भगवान के पास में १४००० साधु और ३६००० साध्वियों का समुदाय था। सूर्याभदेव ने भगवान से पहले ही प्रार्थना करदी थी कि आप तो सर्वज्ञ हैं। सर्वदर्शी हैं। परन्तु मैं तो गौतमस्वामी आदि साधु-साध्वियों को अपनी भक्ति वतलाता हूँ। इसलिये भगवान् वीतराग होने से और गौतम आदि साधु-साध्वियों के स्वाध्याय ध्यानादि में अन्तराय पड़ने से नाटक करने के लिए, भगवान आज्ञा नहीं दे सके और भक्ति का भङ्ग न होने के लिए मनाई भी नहीं की और भगवान् मौन रहे। इसलिए इसका भावार्थ समझे विना भगवान् की भक्ति के नाटक को आज्ञा के वाहर ठहराना उचित नहीं है। वरन् आज्ञा में ही मान्य करना उचित है।

संसार में जीवों के मन के परिणाम बहुत चपल होने से शास्त्र पढ़ने, स्मरण करने, माला फेरने, जप ध्यान करने से भी स्थिर नहीं रहते; व्यर्थ इधर-उधर भटकते हुए कर्म-बन्धन कर लेते हैं। परन्तु गीत-गान, वाजिंत्रों के नाद-पूर्वक नाटक ही जगत में

ौतीस अतिशय, आठ महा-प्रातिहार्य सहित, बारह परिषदा में र्म-देशना दी। जगत के जीवों का उद्धार किया, साधु, साध्वी, ावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की, छत्र, चामर, ामण्डल, अशोकवृक्ष, धर्मचक्र आदि तीर्थंकर की सम्पदा का वरूप बतलाया और अन्त में सर्व कर्म-क्षय करके मोक्ष में गए, सेद्ध हुए, यहां तक भगवान का स्वरूप नाटक में बतलाया और ूर्ण भाव सहित, उल्लासयमान हृदय से, गौतम आदि साधु-साध्वियों ो दिव्य देव-शक्ति का गीत-गान, वाजित्र, नाटक सहित भक्ति-भाव दिखलाया और भगवान् को वन्दना नमस्कार करके अपने थान को चला गया।

भगवान् के पूर्व-भवकी तपश्चर्या का तथा इस भव में दीक्षा लिये बाद कठिन तपस्या, घोर उपसर्ग, घनघाति कर्मों का क्षय, केवल-ज्ञान की प्राप्ति, समवसरण की रचना और मोक्षगमन आदि का साक्षात् दृश्य जब गौतमस्वामी आदि साधु-साध्वियों के देखने में आया होगा तब उनके भाव उस दृश्य को देख कर कैसे उल्लसित हुए होंगे। और नाटक करने वाले ने जब भाव सहित वैसे ही रूप धारण किये होंगे, तब सूर्याभदेव की आत्मा कैसी निर्मल भावना वाली हुई होगी, और ऐसी देव-शक्ति, देव-समृद्धि मिलने पर भी चाकर, नौकर देवों से कार्य न करवाता हुआ स्वयं भगवान् की भक्ति में लयलीन होना, और भगवान् के गुणों का साक्षात् अनुभव करने वाले, दर्शक लोगों की भगवान् के ऊपर कैसी दृढ़ श्रद्धा व भक्ति उत्पन्न हुई होगी? भगवान् की भक्ति के प्रताप से ऐसी देव-शक्ति प्राप्त होती है। वहां पर देवलोक के सुख भोग कर फिर उत्तम-कुल में जन्म लेकर यावत् मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। यह भगवान् की भक्ति की ही महिमा है। इन बातों के सार का जब विचार करते हैं तब ऐसी महान, शुभ, उत्तम, धर्म [illegible] क वान् की आज्ञा बाहर कहने को कौन धर्म-

हो सकता है ? कदापि नहीं, इसलिये ऐसा धर्म-नाटक शुभ फल देने वाला होने से भगवान की आज्ञा में ही समझना चाहिये।

सुधर्म देवलोक में अपने सूर्याभ नामक विमान में सूर्याभ देव सिंहासन पर बैठा हुआ देवलोक सम्बन्धी दिव्य देवानुभाव के सुख भोग रहा था। उस समय उसने आमलकल्पा नगरी के बाहर अम्बसाल वनके चैत्य में भगवान् महावीर-स्वामी को अवधि ज्ञान से देखे, और अत्यन्त हर्षित होकर विधि सहित नमस्कार किया। "नमुत्थुणं" से स्तुति करके भगवान को वन्दना करने को जाने का विचार किया "तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामी सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं, मंगलं, चेइयं, देवयं पज्जुवासामि, एयं मे पेच्चा हियाए सुहाए खमाए णिस्सेयसाए आणु-गामियत्ताए भविस्सति त्तिकट्टु" * अर्थात श्रमण भगवान् श्री महावीर-स्वामी को वन्दना नमस्कार करना, सत्कार सन्मान करना, कल्याण, मंगल-रूप देव-चैत्य की तरह यानि देवाधिदेव की जिन-प्रतिमा की तरह पर्युपासना सेवा करने योग्य है। ऐसी भगवान् की सेवा मेरे परभव में हितकारी, सुखकारी, क्षेम कल्याण करने वाली, निर्वाण देने वाली और भव-भव में श्रेयकारी है। ऐसा विचार करके अपने सेवक देवों को बुलवा कर उनके सामने भगवान को वन्दना करने को जाने के अपने विचार प्रगट किये और आज्ञा दी कि तुम भगवान के पास जाकर भगवान को वन्दना नमस्कार करो और मेरे आने के योग्य भगवान के चारों तरफ एक योजन प्रमाण जगह से हवा (वायु) करके तृण, पत्र कंकर, कांटे, अशुचि आदि सबको दूर फेंको। पीछे सुगंधित जल की वृष्टि करके रजको शांत करो, पुनः जल से उत्पन्न होने वाले कमल आदि, तथा स्थल से उत्पन्न होने वाले जाई जूई, आदि पांच वर्ण के सुगन्धि पुष्पों की वृष्टि करके दशांग सुगन्धी धूप से

* पं० बेचरदासजी संपादित 'राजप्रश्नीय सूत्र' पृ० ४१

भावार्थ—ऊपर के पाठ का सारांश यही है कि जब सूर्याभ देव उत्पन्न हुआ तब पर्याप्ति पूरी हुए बाद अभिलाषा पूर्वक इस प्रकार अपने मन में विचार करने लगा कि क्या मुझे पहिले व पीछे, इस भव में और पर-भव में श्रेय कल्याणकारी हित के लिए सुख के लिये तथा इस भव में और पर-भव में शुभ अनुबंधक परम्परा से मेरे साथ चलने वाला, क्षेम के लिए, मोक्ष के लिए मुझे यहां पर ऐसा क्या शुभ कार्य करने योग्य है। ऐसा सूर्याभदेव का विचार उनके सामान्य पर्षदा के देवों ने जाना, तब उनके पास आकर विनय सहित भक्ति युक्त दोनों हाथ जोड़ कर कहने लगे कि 'हे देवानुप्रिय! यहाँ पर सिद्धायतन, चैत्य में (जिन-मन्दिर) १०८ जिन-प्रतिमाएँ हैं तथा सुधर्मा-सभा में माणवक नामक चैत्य स्तंभ में बहुत तीर्थंकर भगवानों की डाढें हैं। वे बहुत देवों के और देवियों के अर्चनीय, (पूजनीय) वन्दनीय, सत्कार करने योग्य तथा सन्मान करने योग्य, कल्याण, मंगल-रूप देव के चैत्य की तरह सदा सेवा करने योग्य है। जिन-प्रतिमा के पूजन करने योग्य यह शुभ कार्य आपके इस भव में और पर-भव में हितकारी, सुखकारी, क्षेम करने वाला, निर्वाण देने वाला, श्रेय कल्याण रूप होने से पहले और पीछे भी करने योग्य है।

ऐसे देवों के वचन सुनकर सूर्याभदेव बड़ा हर्षित हुआ। वह वहाँ से उठा, अभिषेक सभा में आया। अभिषेक के बाद परिवार सहित सिद्धायतन में जाकर भाव भक्ति सहित जिन-प्रतिमा की पूजा की।

श्रीराजप्रश्नीय सूत्र वृत्ति सहित छपे हुए पृष्ठ २५४ का पाठ इस प्रकार है:—

"तए णं से सूरियाभे देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव अन्नेहिं य बहूहिं य जाव देवेहिं य देवीहिं य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए जाव णाइयरवेणं जेणेव सिद्धायतणे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता सिद्धायतणं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छंदए, जेणेव जिणपडिमाओ

णेव उवागच्छति उवागच्छित्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं
रेति करित्ता लोमहत्थगं गिण्हति गिण्हित्ता जिणपडिमाणं लोम-
त्थएणं पमज्जइ पमज्जित्ता जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएणं
हाणेइ एहाणित्ता सरसेणं गोसीसचन्दणेणं गायाइं अणुलिपइ
णुलिपइत्ता सुरभिगंधकासाइएणं गायाइं लूहेति लूहित्ता जिण-
डिमाणं अहयाइं देवदूसजुयलाइं नियंसेइ नियंसित्ता पुप्फारुहणं
ल्लारुहणं गंधारुहणं चुण्णारुहणं वन्नारुहणं वत्थारुहणं आभरणारु-
णं करेइ करित्ता आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं
रेइ मल्लदामकलावं करेत्ता कयग्गहगहियकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं
सवद्धवन्नेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेति करित्ता
जणपडिमाणं पुरतो अच्छेहिं सण्हेहिं रययामएहिं अच्छरसातं-
लेहिं, अट्ठट्ठ मंगले आलिहइ तं जहा—सोत्थिय जाव दप्पणं। तयाणं-
रं च णं चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं कंचणमणिरयण-
त्तिचित्तं कालागुरुपवरकुन्दुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुत्तमाणुविद्धं
धूववट्टिं विणिम्मुयंतं वेरुलियमयं कडुच्छुयं पग्गहिय पयत्तेणं
"धूवं दाऊण जिणवराणं" अट्ठसयविसुद्धगन्थजुत्तेहिं, अत्थजुत्तेहिं
अपुणरुत्तेहिं महावित्तेहिं संथुणइ संथुणित्ता सत्तट्ठ पयाइं पच्चोसक्कइ
च्चोसक्कित्ता वामं जाणुं अंचेइ अंचित्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि
निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवाडेइ निवाडित्ता ईसिं
पच्चुण्णमइ पच्चुण्णमित्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए
अंजलिं कट्टु एवं वयासी—नमोत्थुणं अरहंताणं जाव संपत्ताणं
वंदइ नमंसइ नमंसित्ता।"

इस पाठ में सूर्याभदेव चार हजार सामानिक देव आदि
बहुत देव देवियों के परिवार सहित सर्व देव सम्बन्धी ऋद्धि
सहित अनेक प्रकार के बाजिकों के साथ, जहां सिद्धायतन (जिन
मन्दिर) है वहां आवे; आकर सिद्धायतन को प्रदक्षिणा देकर
पूर्व दिशा के दरवाजे से अन्दर प्रवेश करे, जहां देवच्छन्द है

ऊपर के दोनों सूत्र पाठों के अर्थ ध्यान पूर्वक से विचार करना चाहिये कि सूर्याभदेव ने विधि सहित जिन-प्रतिमा की पूजा करके "नमुत्थुणं" से अरिहंत भगवान के गुणों की स्तुति की, इस से यह पूजा धर्म-मार्ग जान कर के मोक्ष के लिए ही की गई साबित होती है। यह पूजा इस भव और पर-भव में हित के लिए, सुख के लिए यावत मोक्ष देने वाली, सब भव में अनुगामी, ऐसे सूत्रकार महाराज ने मूल पाठ में ही बतलाई है। जब सूर्याभ देव ने भगवान को वन्दना करने को जाने का विचार किया, तब "हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए अणुगामियत्ताए भविस्सइ" इस सूत्र पाठ का अर्थ स्थानकवासियों के द्वारा प्रकाशित 'रायपसेणइय' सूत्र में इस प्रकार किया है "यह मुझे मेरे हित की करता, सुख की करता क्षमा की करता निस्तार की करता, अनुगामी आगे साथ में मोक्ष को देने वाली होवेगी।" इस प्रकार "हियाए" इत्यादि पाठ का अर्थ हित, सुख, निस्तार, मोक्ष देना मान्य करते हैं। इसलिये जैसे साक्षात् भगवान को भाव सहित वन्दना करने का फल मोक्ष होता है, इसी तरह भाव सहित जिन-प्रतिमा को जिनराज मान कर पूजा करने का फल भी मोक्ष होता है।

की ऊँची है, उन चैत्य-वृक्षों के चारों दिशा में चार मणि पीठिका हैं. वे आठ योजन की चौडी, चार योजन की जाडी (मोटी) है। उस पर महेन्द्र ध्वजा चौसठ योजन की ऊँची है, एक योजन गहरे जमीन में व एक योजन की चौडी है, शेष वैसे ही कहना। वैसे चारों दिशा में चार नन्दा पुष्करणियां हैं। उनमें पानी इक्षुरस जैसा भरा है। वे एक सौ योजन लम्बी हैं, पचास योजन चौडी हैं, दश योजन गहरी हैं। शेष सब वैसे ही कहना। मणोगुलक और सुमाणसी का अडतालीस हजार हैं, जिसमें से सोलह हजार पश्चिम में, दक्षिण में आठ और उत्तर में आठ हजार वैसे ही चंद्रपा भूमिभाग यावत् उसके मध्य भाग में मणि-पीठिका है। यह सोलह योजन की लम्बी है चौडी है और आठ योजन की जाडी है (मोटी)। उन मणि-पीठिका पर देवछंदक कहा है। यह सोलह योजन लम्बा चौडा है और साधिक सोलह योजन ऊँचा है, सब रत्न-मय हैं। वहाँ १०८ जिन प्रतिमा हैं। इसका सब अधिकार वैमानिक सिद्धायतन का कहा—वैसे ही कहना, यहां जो पूर्व दिशा का अञ्जनीक पर्वत है, उसके चारों दिशा में चार नन्दा पुष्करणी हैं। जिनके नाम नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा और नन्दीवर्धना। यह नन्दा पुष्करिणियाँ एक लाख योजन की लम्बी चौडी हैं। दश योजन की ऊँची हैं। स्वच्छ श्लक्ष्ण हैं। प्रत्येक को पद्मवर वेदिका और वनखड है, वहां यावत् त्रिसोपान प्रतिरूप कहे हैं, व तोरण हैं। उस नन्दा पुष्करणी के बीच में पृथक् पृथक् दधिमुख पर्वत हैं। यह दधिमुख पर्वत चौसठ हजार योजन के ऊँचे हैं। एक योजन हजार के जमीन में है, सब स्थानसम प्रत्येक संस्था वाले हैं—दस हजार योजन के चौडे हैं, इकतीस हजार छह सौ तेवीस योजन की परिधि है—सब रत्न-मय स्वच्छ यावत् प्रतिरूप हैं प्रत्येक के चारों ओर पद्मवर वेदिका व वनखण्ड हैं। बहुत रमणीय भूमि भाग यावत् वहाँ देव बैठते हैं। सिद्धायतन का प्रमाण वैसे

ही जानना, यों अंजनक पर्वत की वक्तव्यता कहना, यावत् ऊपर आठ आठ मंगल कहे हैं, दक्षिण का अंजनीक पर्वत है. उसके चारों दिशा में चार नन्दा पुष्करणी है, जिनके नाम—नन्दिसेना, अमोघा, गोस्तूभ व सुदर्शना। इसका भी सिद्धायतन पर्यन्त कथन पूर्ववत् जानना, उत्तर दिशामें जो अंजनीक पर्वत है उनके चारों दिशा चार नन्दा पुष्करणी हैं, जिनके नाम—विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, और अपराजिता, इनमें सिद्धायतन पर्यन्त सब कथन पूर्ववत जानना। यहाँ बहुत भुवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष व वैमानिक देव चतुर्मासिक (१ चतुर्मासिक पूर्णिमा प्रतिपदा तीन है—आषाढ महीने की कार्तिक व फाल्गुन, महिने की प्रतिपदा) संवत्सर में, और अन्य बहुत जिन भगवान के जन्म, दीक्षा, केवल-ज्ञान और निर्वाण कल्याणक इत्यादि दिनों में देव कार्य, देव-समुदाय देव-गोष्टि, देव-सम्बधि समवाय और देव सम्बन्धी जीत-व्यवहार के प्रयोजन में देवता एकत्रित होते हैं, वहाँ आनन्द क्रीडा अष्टाहिका महामहोत्सव करते हुए सुख पूर्वक विचरते हैं।"

और भी देखिये स्थानकवासियों के ही छपवाये हुए "जम्बूद्वीपपन्नति" सूत्र के पृष्ठ १०१ तथा १०२ में नीचे लिखा पाठ है:—

"तए णं ते बहवे भवणवई जाव वेमाणिआ देवा तित्थगरस्स परिनिव्वाणमहिमं करेंति २ त्ता जेणेव नन्दीसरवरे दीवे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तए णं॥ से सक्के देविंदे पुरत्थिमिल्ले अंजणगपव्वए अट्ठाहिअं महामहिमं करेति॥ तए णं सक्कस्स देविंदस्स चत्तारि लोगपाला चउसु दहिमुहगपव्वएसु अट्ठाहिअं महामहिमं करेंति। ईसाणे देविन्दे देवराया उत्तरिल्ले अंजणगपव्वए अट्ठाहिअं महामहिमं करेंति, तस्स लोगपाला चउसु दहिमुहगेसु अट्ठाहिअं महामहिमं करेंति, चमरोअ, दाहिणिल्ले अंजणगे तस्स लोगपाला चउसु दहिमुहगपव्वएसु वलीपचत्थिमिल्ले

अंजणगे, तस्स लोगपाला दहिमुहगेसु पव्वएसु । तए णं ते बहवे भवणवई वाणमंतर जाव अट्ठाहिआओ महामहिमाओ करेंति २ त्ता जेणेव साइं २ विमाणाइं, जेणेव साइं २ भवणाइं जेणेव साओ २ सभाओ सुहम्माओ, जेणेव सगा सगा माणवगा चेइअखंभा तेणेव उवागच्छंति २ त्ता वइरामएसु गोलसमुग्गएसु जिणसकहाओ पक्खिवंति २ त्ता अग्गेहिं वरेहिं मल्लेहिं अ गंधेहिअ अच्चेंति २ त्ता विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति ॥ ६०॥

अर्थ—वे भवनपति, वाणव्यंतर यावत् वैमानिक देवों ने तीर्थंकरों के निर्वाण का महोत्सव किया, महोत्सव करके नन्दीश्वर द्वीप में आये वहाँ शक्र देवेन्द्र देवता के राजा ने पूर्व दिशा के अंजनगिरि पर्वत पर आठ दिन पर्यन्त महा महिमा की। वहां उनके चार लोकपालों ने चार दधिमुख पर्वत पर आठ दिन तक महा महिमा की। ईशान देवेन्द्र ने उत्तर दिशा के अंजन गिरि पर्वत पर आठ दिन तक महा महिमा की। उनके लोकपालों ने चार दधिमुख पर्वत पर आठ दिन तक महा महिमा की। चमरेन्द्र ने दक्षिण अंजन गिरि पर्वत पर और उनके लोकपालों ने चार दधिमुख पर्वत पर आठ दिन तक महा महिमा की, और इस ही प्रकार बहुत भुवनपति वाणव्यंतर ज्योतिषी वैमानिक देवों ने आठ दिन तक निर्वाण महा महिमा की, और जहां अपने २ विमान अपने २ भवन अपनी २ सभा, सुधर्मा और अपने २ माणवक चैत्य-स्तम्भ थे, वहाँ आये वहाँ वज्र रत्नमय गोल डिब्बे में जिन दाढा रक्खीं उनकी श्रेष्ठ माल्य-गन्ध से अर्चन की और विपुल भोग भोगते हुवे विचरने लगे ॥ ६० ॥

इस प्रकार स्थानक वासियों के ही बनाये हुए अर्थ में "नन्दीश्वर द्वीप" में सिद्धायतन (चैत्य) कहे हैं। उसमें एक सौ आठ जिन प्रतिमायें बतलाई हैं। तथा जिस प्रकार भाविक श्रावक लोग धार्मिक उत्सव के हर्ष में विशेष रूप से जिन-प्रतिमा की पूजा करते

रचाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रादि देव भी तीर्थंकर भगवान के जन्म, ीक्षा, केवल-ज्ञान आदि कल्याणों के महोत्सवों में धार्मिक हर्ष ि स्वर्ग (इन्द्रलोक) से नन्दीश्वर द्वीप में जाकर वहाँ शाश्वत ैत्यों में जिन-प्रतिमा की पूजा भक्ति पूर्वक अट्ठाई महोत्सव करते हैं।

यह प्रत्यक्ष सूत्रानुसार धार्मिक कार्य है। परन्तु खेद है कि थानकवासी नन्दीश्वर द्वीप के सिद्धायतनों में जिन-प्रतिमाओं को कामदेव-यक्ष की प्रतिमा बतलाते हैं, और तीर्थंकर भगवान के केवलज्ञान निर्वाण कल्याणकों में धार्मिक महिमा करने के लिए शुद्ध सम्यक्त्वी, एकावतारी, निर्मल अवधि-ज्ञानी साक्षात् तीर्थंकर भगवान के समवसरण में धर्म-देशना सुनने वाले ऐसे जिनराज के भक्त इन्द्रादि देवों को कामदेव यक्ष की पूजा महोत्सव करने वाला ठहराते हैं: यह कितना भारी मिथ्या हठ है।

और देखिये, स्थानकवासी श्रावक जिन-मन्दिर में जिन-प्रतिमा के दर्शन नहीं करते हैं, परन्तु जब अपने घर में किसी की मृत्यु हो जाती है या किसी सगे सम्बन्धी के घर में मृत्यु होने के विदेश से समाचार (मुनावनी) आते हैं, तब मोह शोक से रोने-पीटने लग जाते हैं और धार्मिक कार्य छूट जाते हैं। तब मोह शोक दूर करने के लिये और धर्म-कार्य करने के लिए अपने ज्ञाति पंचों के साथ पहिले जिन-मन्दिर में दर्शन करके शोक दूर करते हैं। फिर अपने धर्म-कार्य में प्रवृत्ति करते हैं। यह सर्व-प्रचलित प्रथा प्रसिद्ध ही है। उसी तरह से तीर्थंकर भगवान के निर्वाण (सर्व कर्मों से रहित होकर मृत्यु) होने से इन्द्रादि भक्त देवों को तीर्थंकर भगवान के वियोग का महान शोक होता है, उसका निवारण करने के लिए धार्मिक कृत्य रूप में नन्दीश्वर द्वीप में जिन-प्रतिमा के दर्शन पूजनादि, महोत्सव करके तीर्थंकर भगवान के गुण गाते हैं। इस धर्म-कार्य को अधर्म ठहराना दुराग्रह मात्र ही है।

और देखिए, जिस प्रकार श्रावक, [illegible] आदि
चौमासी पर्वों में तथा पर्युषण पर्व में [illegible] आरम्भ, मकान और
मोह, दुकानदारी आदि छोड़कर [illegible] धर्म करते
हैं, इसी प्रकार चौमासी पर्युषण [illegible] धार्मिक पर्वों में,
इन्द्रादिदेव भी देव-लोक [illegible] धार्मिक पर्वों की
महिमा भक्ति करने के लिये नन्दीश्वर द्वीप में आकर सिद्धायतनों
में जिन-प्रतिमा की पूजा भक्ति करते एवं धार्मिक पर्वों की आराधना
करने के लिए अट्ठाई महिमा करते हैं, इस धार्मिक कार्य को भी
अधर्म ठहराना मिथ्या हठ ही है।

पूर्वोक्त "जीवाभिगम" तथा "राजप्रश्नीय" सूत्रानुसार देव-लोक के सिद्धायतनों में जिन-प्रतिमा बतलाई हैं, इसी प्रकार नन्दीश्वर द्वीप के सिद्धायतनों में जिन-प्रतिमाएँ वर्णित हैं। उन्हीं जिन-प्रतिमाओं की पूजा इन्द्रादि देव करते हैं। जिन-प्रतिमा को साक्षात जिनराज समझ करके ही "नमुत्थुणं" करके तीर्थंकर भगवान के गुण गाते हैं। "जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं, बोहियाणं, मुत्ताणं मोअगाणं" इत्यादि अर्थात जिस प्रकार तीर्थंकर भगवान ने राग-द्वेषादि कर्मों को जीता, संसार से पार उतरे, तत्त्व का बोध पाया, कर्मों से मुक्त (रहित) हुए, वैसे ही इन्द्रादि देव भी भगवान से विनती करते हैं कि हे भगवान ! आप मुझे भी कर्मों से जिताओ, संसार से पार उतारो, तत्त्व का बोध दो, यावत कर्मों से रहित कर मुक्ति में पहुँचाओ इत्यादि। वे भगवान की स्तुति करके मोक्ष की भावना करते हैं। इससे यह जिन-प्रतिमा की पूजा, जिनराज की पूजा के समान ही है। परन्तु स्थानकवासी इस प्रकार की जिन-प्रतिमा की पूजा को कामदेव यक्ष की प्रतिमा की पूजा करना सिद्ध करते हैं, यह मिथ्या हठ है।

प्रिय पाठक गण, जैन-शासन का यह नियम है कि इन्द्रादि देव, देवी, राजा-महाराजा, बलदेव वासुदेव, चक्रवर्त्ती, विद्याधर आदि

महावीर प्रभु को वन्दना करने के निमित्त सूर्याभदेव के मनो-गत विचार सम्बन्धी "हियाए सुहाए" इत्यादि पाठ पूर्व में आये हैं। यही पाठ जिन प्रतिमा की पूजा का फल-सम्बन्धी भी है, तथा साक्षात तीर्थंकर भगवान की स्तुति में देवादि "नमुत्थुणं" करके जिनराज के गुण गाते हैं, इसी प्रकार जिन-प्रतिमा की पूजा करके,, जिन प्रतिमा के आगे "नमुत्थुणं" करके जिनराज के गुण गाते हैं। इससे "राय प्रसेनीय" सूत्र पाठ के अनुसार जिन-राज के समान ही जिन प्रतिमा मानी गई है, जिससे जिन-प्रतिमा की पूजा करते हुए धूप करने के समय खास सूत्रकार महाराज ने "धूव दाऊणं जिण वराणं" यानी जिनराज को धूप देता है, ऐसा मूल सूत्र में बतलाया है। अतः सूत्रों में जिन-प्रतिमा जिन सदृश ही कही है। यही पाठ उनके ज्ञान भँडारों में तथा स्थानकवासी साधुओं के पास की बहुत सी पुरानी प्रतियों में देखने में आता है। स्थानकवासियों द्वारा प्रकाशित "भूरसुन्दरी विवेक-विलास" पृष्ठ २१७ पर भी "धूवं दाउणं" ऐसा पाठ छपा हुआ है। फिर क्यों स्थानकवासी और तेरापंथी अपना मत स्थापन करने के लिये उक्त सूत्र पाठ का उत्थापन करते हैं समझ में नहीं आता। यही नहीं, उन्होंने "धूवं दाउणं जिणवराणं" पाठ के बदले "धूवं दाउणं जिणपडिमाणं" पाठ "रायप्रसेनीय" सूत्र में छपवा दिया है और इस का अर्थ जिनवर को धूप देना न करके जिन प्रतिमा को धूप देना बताया है। और जिनराज की प्रतिमा के बदले कामी क्रोधी कामदेव यक्षकी प्रतिमा ठहराने का प्रपंच रचा है। इस प्रकार सूत्र की सत्य बात पर से श्रद्धा हटा कर बनावटी बात के भ्रम में डालना कहां तक उचित है?

जिनराज तो वीतराग हैं। सुगन्धित, दुर्गंधित सब पदार्थों के ऊपर उनका समभाव होता है, जिससे वीतराग को सुगंधित धूप की इच्छा भी नहीं होती है और जिन-प्रतिमा के सामने धूप करने

भगवान को सुगन्धि पहुँचती भी नहीं, तो भी संसार में यह
त अनुभव सिद्ध है कि मोह उत्पन्न करने वाली या वैराग्य उत्पन्न
रने वाली वस्तु के जैसे २ संयोग जीवों को मिलते हैं, वैसे २
संसारी जीवों की मनोगति की भावना होती है और उससे वैसे
शुभ-अशुभ कर्म-बन्धन होते हैं। यह बात सभी जैन-सम्प्रदायों
मान्य हैं। देव अथवा मनुष्य जिन-प्रतिमा के आगे जब सुग-
धत धूप करते हैं, तब इस प्रकार भावना करते हैं कि हे जिन-
ज ! आप मोह या द्वेष-रहित होकर सुगन्धित या दुर्गंधित सब
ार्थों के ऊपर सम-भाव रखते हैं, उसी प्रकार मुझे भी मोह और
प दूर होकर सुगंधित और दुर्गंधित सब पदार्थों के ऊपर समभाव
त हो, इसलिये मैं आपको सुगन्धित धूप से अर्थात धूप के निमित्त-
रण रूप धूप हाथ में लेकर विनय करता हूँ। दूसरी बात यह है कि
स प्रकार अग्निके संयोग से दशाङ्ग धूप जल कर उसका धुआँ दशों
शाओं में सुगन्ध फैलाता है, उसी प्रकार हे जिनराज, मेरे भी अशुभ
र्म पुद्गल जल जावें, जिससे मैं राग-द्वेष, निन्दा-ईर्ष्या, प्रमाद-
षाय, मोह-अज्ञान आदि दुर्गुणों से रहित होकर ज्ञान, दर्शन,
ारित्र आदि धार्मिक शुद्ध गुणों की सुगंधि जगत में भव्य जीवों
उपकार के लिए फैलाने वाला होऊँ। ऐसी शुद्ध प्रवृत्ति होने के लिए
आपसे सुगन्धित धूप द्वारा प्रार्थना (विनती) करता हूँ। तीसरी
त यह भी है कि जिस प्रकार सुगन्धित धूप का धुआँ हलका होने
ऊँचा जाता है, उसी प्रकार मेरे भी कर्म-काष्ठ जलकर मैं हल्का
जाऊँ। इस प्रकार जिनराज की प्रतिमा के सामने शुद्ध सुगन्धित
र करने में बहुत गुण हैं। इसीलिये वर्तमान-काल में श्रावक-
ाविका जब जिन-मन्दिर में दर्शन करने जाते हैं, तब जिनराज के
णों की प्राप्ति अपने आत्मा में होने की भावना करते हुए जिन-
तिमा के सामने धूप करते हैं। इससे संकल्प, विकल्प, आर्त-रौद्र
ध्यान मिटता है; सांसारिक कुटुम्ब व दुकानदारी, मोह-माया
टती है और जिनराज के तथा अपनी आत्मा के शुद्ध गुणों का

ध्यान होता है, जिससे धूप करने में अशुभ कर्मों का क्षय हो शुभ कर्म की वृद्धि होती है और उस समय यदि विशेष चढ जावे तो घनघाती कर्मों का क्षय करके केवल-ज्ञान की होकर मोक्ष का अनन्त लाभ मिल सकता है। अथवा शुद्ध भाव से पुण्य-राशि अधिक बढ़ जावे तो देवलोक में जाकर देव सम्बन्धी सुख भोग कर भवान्तर में उत्तम-कुल में जन्म लेकर यावत् गमन कर सकता है। इस प्रकार जिनराज की प्रतिमा के आगे धूप करने में अनन्त लाभों को समझे बिना उसे पाप बतलाकर धूप करने का निषेध करना भव्य-जीवों के कल्याण करने में अन्तराय देने रूप कर्म-बन्धन करना है।

यदि कोई शंका करे कि "जिन-प्रतिमा के समक्ष धूप करने में इतना लाभ होता है तो फिर साक्षात जिनराज के समवसरण में किसी ने प्रत्यक्ष में जिनराज को धूप क्यों नहीं किया?" इसका उत्तर यह है कि जिनराज के समवसरण में जब देवता समवसरण की रचना करते हैं तब दशाङ्ग-धूप से सर्वत्र बहुत अधिक धूप करके कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों के डब्बे की तरह सब समवसरण को धूप से सुगन्धित कर देते हैं। यह भी जिनराज की भक्ति है, इस प्रकार जिनराज की महिमा और भक्ति देखकर अनेक जीव हर्ष से प्रफुल्लित होकर भगवान के ऊपर धर्मराग की भक्ति उत्पन्न करते हैं और देशना सुनकर, प्रतिबोध पाकर यावत् दीक्षा लेकर अपना आत्म कल्याण कर लेते हैं। इसलिए भगवान के समवसरण में सुगंधित धूप की सुगंधि सर्वत्र फैली हुई होने से प्रतिमा के सामने धूप करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती है।

जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा के आगे धूप करने का तात्पर्य नहीं समझ कर यह कहा जा सकता है कि जिन-प्रतिमा के सामने

ऐसा करने से मोक्ष मिल जाती हो, तो फिर दानादि का देना, शील का पालन करना, गृहस्थावास, राज-ऋद्धि छोड़कर संयम लेना और जप-तप स्वाध्यायादि का कष्ट सहन करने का क्या प्रयोजन ? सब लोग जिन-प्रतिमा के आगे मुट्ठे के मुट्ठे भर कर धूप करके सीधे मोक्ष चले जाने चाहिये । पर यह भी अज्ञान की बात है । जैन शासन में मोक्ष गमन के लिए अनेक धर्म-कार्य बतलाये हैं । जिस कार्य में जिस जीव का विशेष भाव चढ़ जावे, उसमें ही उसका आत्म कल्याण हो जाता है । देखिये, "अइमत्ता (अतिमुक्तक) राजकुमार ने दीक्षा लेकर शुद्ध भाव से "इरियावही" का प्रतिक्रमण करते हुए केवल-ज्ञान प्राप्त कर लिया । आषाढभूति तथा इलापुत्र नाटक करते हुए केवली हुए, और शालिभद्र के जीव ने पूर्व-भव में सिर्फ एक ही बार खीर का दान मुनि को दिया, जिससे वह राजगृही नगरी में गोभद्र सेठ के घर जन्म लेकर अपार ऋद्धि का स्वामी हुआ । उसके लिए तथा उसी के पुण्य के प्रभाव से उसकी बत्तीस स्त्रियों के लिए भी वस्त्र, भोजन और आभूषण की ९९ पेटियाँ नित्य प्रति देवलोक से आती थीं । अब विचार करना चाहिये कि हम जैन साधु, साध्वी दिन में कई बार "इरियावही" करते हैं; परन्तु केवल-ज्ञान होने का स्वप्न तक भी नहीं आता है । जैन श्रावक-श्राविका कई बार अपने गुरुओं को खीर का दान देते हैं, किन्तु शालिभद्र के समान दान का लाभ नहीं मिलता है । तो क्या उससे "इरियावही" करना, दान देना व्यर्थ माना जावेगा ? कभी नहीं । कहने का तात्पर्य यही है कि यदि "इरियावही" करते समय— "अइमत्ता कुमार" जैसे भाव चढ जावें तो अवश्यमेव हमको केवल ज्ञान मिल जावे तथा शालिभद्र के पूर्व-भव के जीव की तरह दान देते समय भाव चढ जावें तो वैसे ही ऋद्धि सम्पदा तथा देव-लोक का वास और क्रम से मोक्ष प्राप्ति हो जावे । इसी तरह "जिनेश्वर" भगवान की प्रतिमा के सामने धूप करते समय वैसे ही

भावना नहीं आसकती है, इसलिए जाना पड़ता है। इसी तरह "जिनेश्वर" भगवान के भक्त लोगों को भी मन्दिर में जाकर धूपादि से भक्ति किये बिना, घर में ऐसी भावना नहीं आसकती है। इसलिए मन्दिर में जाकर भक्ति करके भावना करते हैं। शान्त और पवित्र स्थान का मन पर अच्छा प्रभाव पड़ता ही है।

यह बात तो जगत में सर्वमान्य है कि कारण से कार्य होता है। बिना कारण कार्य कभी नहीं हो सकता। दान दिये बिना या शील का पालन किये बिना सब गृहस्थ लोगों को, दान देने और शील पालने की भावना कभी नहीं आसकती। इसलिये पहिले दान देते हैं, पीछे दान देने की विशेष भावना भाते हैं, तथा पहिले द्रव्य से गृहस्थावास को छोड़कर, साधु होते हैं, पीछे भाव से आत्म कल्याण कर सकते हैं। पहिले द्रव्य से कार्य किये बिना सब लोग अकेले भाव से आत्म-सिद्धि कभी नहीं कर सकते। इसीलिये पहिले द्रव्य से कार्य करने की आवश्यकता पड़ती है, तब उसी के अनुसार भावना से कार्य की सिद्धि होती है। इसी तरह पहिले जिन-मंदिर में जाकर द्रव्य-पूजन की जायगी, तब उसके अनुसार भाव की शुद्धि होगी। अतः मन्दिर में न जाकर घर पर ही भावना करने की बात कहना नितान्त भूल और मिथ्या हठ ही कहा जायगा।

जिस प्रकार धूप करने में महान लाभ होता है, उसी प्रकार जिनराज की प्रतिमा को जल, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, मिठाई, फल, वस्त्र, आभूषण आदि चढ़ाने में भी अनन्त लाभ होता है। इसका विशेष खुलासा जिन-प्रतिमा की चन्दन पूजन करने की विधि के अधिकार में विस्तार से सब तरह की शंका समाधान सहित वर्णन किया जायगा। यहां पर ग्रन्थ के बढ़ने के भय से नहीं लिखा जाता है।

अपसारिश्रो जाव भत्तभत्तगाणं किरणं करेति करेति। अप्पेगइआ तंडवेंति। अप्पेगइआ लासेन्ति। अप्पेगइआ पीणेंति एवं बुक्कारेन्ति अप्फोडेन्ति वग्गन्ति सीहणायं णदन्ति। अप्पे० पच्छोलन्ति। अप्पे० तिवइं छिंदन्ति, पायदद्दरयं करेन्ति, भूमिचवेडं दलयंति। अप्पे० महया सद्देणं रावेंति। एवं संजोगा विभासि अव्वा। अप्पे० हक्कारेन्ति, एवं पुक्कारेन्ति, थक्कारेन्ति, ओवयंति उप्पयंति, परिवयंति, जलन्ति, तवेन्ति, पयवंति, गज्जन्ति, विज्जु- यन्ति, वासिंति। अप्पेगइआ देवुक्कलियं करेंति, एवं देवकहकहगं करेंति। अप्पे० दुहुदुहुगं करेंति। अप्पे० विकिय भूयाइं रूवाइं विउव्वित्ता पणच्चंति, एवमाइ विभासेज्जा जहा विजयस्स जाव सव्वओ समन्ता आहावेंति परिधावेंतित्ति। (सूत्र १२१)

तए णं से अच्चुइंदे सपरिवारे सामिं तेणं महया महया अभिसेएणं अभिसिंचइ २ त्ता करयलपरिग्गहियं जाव मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ २ त्ता ताहिं इट्ठाहिं जाव जय जय सद्दं पउंजति पउंजित्ता जाव पम्हलसुकुमालाए सुरभिए गन्धकासाइए गायाइं लूहेइ २ त्ता एवं जाव कप्परुक्खगंपिव अलं- कियविभूसियं करेइ २ त्ता जाव णट्टविहिं उवदंसेइ २ त्ता अच्छेहिं सण्हेहिं रययामएहिं अच्छरसातंडुलेहिं भगवओ सामिस्स पुरओ अट्ठट्ठ मंगलगे आलिहइ, तं जहा-"दप्पण १ भद्दासणं २ वद्धमाण ३ वरकलस ४ मच्छ ५ सिरिवच्छा ६। सोत्थिअ ७ णन्दावत्ता ८ लिहिआ अट्ठट्ठ मंगलगा ॥ १ ॥" लिहिऊण करेइ उवयारं, किं ते ?, पाडलमल्लिअचंपगसोगपुन्नागचूअमंजरिणवमालिअवउलतिलयकणवीरकुंदकुज्जगकोरंटपत्तदमणगवरसुरभिगन्धगंधिअस्स कयग्गहगहि- अ करयलपब्भट्टविप्पमुक्कस्स दसद्धवण्णस्स कुसुमणिअरस्स तत्थ चित्तं जाणुस्सेहप्पमाणमित्तं ओहिनिकरं करेत्ता चन्दप्पभरयण- वइरवेरुलिअविमलदण्डं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपव- रकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवगंधुत्तमाणुविद्धं च धूववट्टिं विणिम्मुअंतं वेरुलि-

अमयं कडुच्छुअं पग्गहित्तु पयएणं धूवं दाऊणं जिणवरिंदस्स सत्तट्ठ पयाइं ओसरित्ता दसंगुलिअं अंजलिं करिअ मत्थयंमि पयओ अट्ठसयविसुद्धगन्थजुत्तेहिं महावित्तेहिं अपुणरुत्तेहिं अत्थजुत्तेहिं संथुणइ २ त्ता वामं जाणुं अंचेइ २ त्ता जाव करयलपरिग्गहिअं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-"णमोत्थु ते सिद्धबुद्धणीरयसमणसामाहिअसमत्तजोगिसल्लगत्तणणिब्भयणीरागदोसणिम्ममणिस्संगणीसल्लमाणमूरणगुणरयणसीलसागरमणंतमप्पमेय भविअधम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी। णमोत्थु ते अरहओत्तिकट्टु" एवं वंदइ णमंसइ २ त्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे जाव पज्जुवासइ, एवं जहा अच्चुअस्स तहा जाव ईसाणस्स भाणिअव्वं, एवं भवणवइवाणमन्तरजोइसिआ य सूरपज्जवसाणा सएणं परिवारेणं पत्तेअं २ अभिसिंचंति, तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया पंच ईसाणे विउव्वइ २ त्ता एगे ईसाणे भगवं तित्थयरं करयलसंपुडेणं गिण्हइ २ सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे एगे ईसाणे पिट्ठओ आयवत्तं धरेइ दुवे ईसाणा उभओ पासिं चामरुक्खेवं करेंति, एगे ईसाणे पुरओ सूलपाणी चिट्ठइ, तए णं से सक्के देविन्दे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ २ त्ता एसो वि तह चेव अभिसेअआणत्तिं देइ ते वि तह चेव उवणेन्ति, तए णं से सक्के देविंदे देवराया भगवओ तित्थयरस्स चउद्दिसिं चत्तारि धवलवसभे विउव्वेइ सेए संखदलविमलनिम्मलदधिघणगोखीरफेणरयणिगरप्पगासे पासाईए दरसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे, तए णं तेसिं चउण्हं धवलवसभाणं अट्ठहिं सिंगेहिंतो अट्ठतोअ धाराओ णिग्गच्छंति, तए णं ताओ अट्ठतोअ धाराओ उद्धं वेहासं उप्पयन्ति २ त्ता एगओ मिलायन्ति २ त्ता भगवओ तित्थयरस्स मुद्धाणंसि निवयंति, तए णं से सक्के देविंदे देवराया चउरासीईए सामाणिअसाहस्सीहिं एअस्सवि तहेव अभिसेओ भाणिअव्वो जाव णमोत्थु ते अरहओत्ति कट्टु वंदइ णमंसइ जाव पज्जुवासइ (सूत्र १२२)

है, दोनों पास में दो चमर ढोलते हैं। एक आगे अपना शस्त्र हाथ में लेकर पहरेदार की तरह से खड़ा रहता है। तब सुधर्म इन्द्र वृषभ (बैल) के आकार श्वेत सुन्दर मनोहर चार रूप बनाकर आठ सिंगड़ों में कलश के समान पहिले बनाया हुआ सुगन्धित औषधि मिश्रित अभिषेक के जल को भरकर आठों सिंगड़ों की धाराओं के समान जो कि पहले धाराओं द्वारा आकाश में ऊँची जाकर फिर एक होकर भगवान के शरीर पर गिरती हैं, भगवान का अभिषेक करता है और अच्युत इन्द्र की तरह विलेपन, पुष्प, धूप, दीप, अष्ट मङ्गल की रचना आदि पूजा करके स्तुति इत्यादि द्वारा भक्ति करता है। पीछे माता के पास लाकर स्थापन करता है। और सब इन्द्र मिलकर तीर्थंकर भगवान के जन्म महोत्सव का हर्ष मनाने के लिए नन्दीश्वर द्वीप में जाकर वहाँ पर शाश्वत चैत्यों में जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा की पूजा भक्ति करते हुए अट्ठाई महोत्सव करते हैं और वहाँ से देवलोक में अपने स्थान पर जाते हैं।

ऊपर जो जन्माभिषेक का अधिकार बतलाया है, उसमें दस इन्द्र वैमानिक के, बीस इन्द्र भवनपति के, बत्तीस इन्द्र व्यन्तर निकाय के और अढ़ाई द्वीप के एक सौ बत्तीस इन्द्र और एक सौ बत्तीस सूर्य तथा सुधर्म इन्द्र और ईशानेन्द्र आदि की इन्द्राणी, लोकपाल आदि सब अपनी २ भक्ति के लिए स्वर्ण-चाँदी आदि आठ तरह के आठ हजार चौसठ कलसों से पूर्वोक्त सामग्री सहित अलग २ अभिषेक करते हैं। उसमें एक करोड़ साठ लाख कलशों से अभिषेक होता है। यह सब क्षीर समुद्रादि के संचित जल को औषधियों से मिश्रित करके, निर्मल अवधिज्ञानी, एक भव करके अथवा थोड़े से गिनती के भव करके मोक्ष जाने वाले इन्द्रादि देव तीर्थंकर की भक्ति करते हैं। तीर्थंकर स्वयं अवधिज्ञान से और प्रत्यक्ष दृष्टि से भी देखते हैं। देखिये—महावीर प्रभु के जन्म अभिषेक के समय इन्द्र महाराज को विचार आया कि भगवान का छोटासा

होते तो आज हमको भी ऐसी भक्ति का लाभ मिलता। धन्य है! इन्द्र को जो भगवान की ऐसी भक्ति करके अपना देव-भव सफल करते हैं, इत्यादि शुभ भावना से इन्द्र की भक्ति के अनुमोदन का महान लाभ लेते हैं और बहुत से देव-देवी ऐसा महोत्सव देखकर, अपना मिथ्यात्व नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, इत्यादि अनन्त लाभ होते हैं।

जितनी विशेष शक्ति होगी तथा जितना समुदाय होगा, उतनी ही सामग्री भी अधिक तैयार करनी पड़ती है। दरिद्र आदमी या धनाढ्य साहूकार अथवा राजा, महाराजा के विवाह या पूजा प्रतिष्ठादि का खर्च और सामग्री की तैयारी का सब को अनुभव है। इसी तरह से असंख्य कोटानुकोटी देव, देवियों के समुदाय में और अनन्त ऋद्धि-समृद्धि वाले इन्द्रादि कोटानुकोटी देव भगवान की पूजा भक्ति के लिए विशेष सामग्री लावे तो कोई अयुक्त नहीं है। जितनी विशेष अधिक सुन्दर सामग्री होती है, उतने ही भक्ति करने वालों के विशेष अधिक शुभ परिणाम चढ़ते रहते हैं। समवसरण की रचना तथा भगवान के चौंतीस अतिशयों में उन्नीस अतिशय देव कृत हैं, इत्यादि बातें शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इस हेतु से समुद्रादि का इतना जल आदि सामग्री देखकर स्थानकवासियों को घबराना नहीं चाहिये। जिस तरह साधु विहार करता है, तथा आहार, निहार, प्रतिलेखनादि करता है। उसमें कुछ द्रव्य हिंसा देखने में आती है, परन्तु भाव शुद्ध होने से विशेष लाभ होता है। इसलिए ऐसी क्रियाओं की शास्त्रों में आज्ञा है। इसी तरह से देवों और श्रावकों के पूजा-भक्ति, जन्माभिषेक आदि कई धर्म कार्यों में द्रव्य हिंसा देखने में आती है। परन्तु तीर्थंकर की भक्ति का परिणाम और धर्म की महिमा बढ़ाने के परिणामों से आत्मा की शुद्धि होती है, और दूसरे जीवों को भी सम्यक्त्व की प्राप्ति आदि अनंत लाभों का हेतु होने से ऐसे भक्ति के धर्म-कार्य जो देव, देवी, श्रावक,

श्राविकायें आपनी २ भावानुसार करते हैं, वे ही शुद्ध भावना और अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करते हैं। [illegible] उसमें पाप बतलाने वाले या निषेध करने वाले जैन-शास्त्रों के रहस्य को नहीं समझते हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

जन्माभिषेक के समय जिस तरह "धूवं दाऊणं जिणवराणं" सूत्र में कहा है, उसी तरह से जिन-प्रतिमा की पूजा करने के समय भी "धूवं दाऊणं जिणवराणं" ऐसा ही पाठ कहा है। जिनवर को धूप देकर के फिर एक सौ आठ श्लोकों से स्तुति करने का और 'नमुत्थुणं' कहने का जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है, और प्रत्यक्ष में या परोक्ष में जिन-प्रतिमा के सामने अथवा साक्षात जिनराज के सामने भक्ति करने वाले भक्तों के जैसे परिणाम शुद्ध होंगे, वैसा ही उनको अवश्य लाभ मिलेगा। एवं एक बात यह भी है कि साक्षात भगवान के सामने यदि शुद्ध भाव न आवेंगे तो कुछ भी लाभ न होगा और भगवान की प्रतिमा के सामने यदि शुद्ध भाव आजावेंगे तो निःसंदेह अवश्य ही लाभ मिलेगा। यह बात अनुभव सिद्ध प्रत्यक्ष न्याय की है। इस हेतु से भक्ति करने वालों के लिए तो साक्षात भगवान या भगवान की प्रतिमा दोनों समान रूप से हितकारी हैं। इसलिए "जिन प्रतिमा जिन सारखी" कही जाती है। इसका भावार्थ समझे बिना जिन-प्रतिमा की पूजा भक्ति का निषेध करना सर्वथा अयुक्त है।

यदि कोई शङ्का करेगा कि मिट्टी में शक्कर का भाव कर मुँह में डालने से मुँह मीठा नहीं होता, तो फिर जिन-प्रतिमा में जिनवर भगवान का भाव करने से हमारा कल्याण कैसे होगा। यह भी नासमझी है। क्योंकि वस्तु के खाने की बात अलग है और मन के परिणाम से शुभ और अशुभ कर्म-बन्धन होना यह बात पृथक् है। देखो मिट्टी को शक्कर मानकर मुँह में डालने से मुँह मीठा नहीं होता, परन्तु मिट्टी से मुँह भर जाने से क्रोध या घृणा करके थू थू

करते हुए व्याकुल होने से, द्वेष से कर्म-बन्धन अवश्य ही होते हैं। इसी तरह से जिन-प्रतिमा को जिनेश्वर भगवान मानकर पूजा भक्ति करने वालों के शुभ परिणाम होने से भगवान की पूजा का लाभ अवश्य ही होता है। फिर भी देखिये, जिस प्रकार रात्रि को स्वप्न दशा में वैमनस्य, लड़ाई, झगड़ा युद्ध आदि में मनुष्य-घातादि दुष्ट विचार आने से किसी जीव की हिंसा न करने पर भी नरक गति का हेतु भूत महान पाप बँधता है; तथा मरते हुए जीवों को बचाना, सुपात्र दान देना, साधु की सेवा करना, भगवान की भक्ति करना इत्यादि स्वप्न में अच्छे विचार आने से प्रत्यत्त में कार्य किए बिना ही महान शुभकर्म बँधते हैं। तथा शिकारी जङ्गल में हिरण आदि के लिए बाण फेंकता है, उससे किसी भी जीव की घात न होने पर भी शिकारी को जीवघात के परिणाम होने से उसको अवश्य ही पाप लगता है, और होलिका पर्व में हलवाई शकर के हाथी, घोड़ा आदि खिलौना बनाते हैं, उनको उनका नाम लेकर खाने से; जीवों के खाने के दुष्ट अध्यवसाय हाथी, घोडा आदि के हिंसा का पाप लगता है। इसी प्रकार जिन-प्रतिमा में भी जिनेश्वर भगवान के भाव करके पूजने से साक्षात भगवान की पूजा का लाभ मिलता है।

और जिस प्रकार "जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र" में जन्माभिषेक के लिए पद्मद्रह आदि में उत्पन्न होने वाले कमलादि तथा नन्दनवन आदि में उत्पन्न होने वाले जाई, जूई आदि के पुष्पों को देव लाये हैं; उसी तरह से "जीवाभिगम, औपपातिक (उववाई); राजप्रश्नीय, समवायांग" आदि सूत्रों में जहाँ २ अभिषेक के निमित्त पूजा के लिये और समवसरण की रचना आदि के लिये तथा पुष्पों की वृष्टि करने के लिये देव फूल लाते हैं, वहाँ पर सर्वत्र ही ऊपर मुजब ही जल-थल में उत्पन्न होने वाले सचित्त फूलों को ही समझना चाहिये। यहाँ पर स्थानकवासीगण जलथल में उत्पन्न होने-जैसे पुष्पों को अचित्त कहते हैं। उनका यह कथन भी सर्वथा

अनुचित है। देखो इनके स्थानकवासियों के छपवाये हुए "पन्नवणा" सूत्र के प्रथम पद के पृष्ठ ५८ में वनस्पति के जीवों के अधिकार में "पुप्फा जलया थलया विंटबद्धा य नालबद्धा य। संखेज्जमसंखेज्जा, बोधव्वाणंतजीवा य॥" पुष्प के चार भेद जलज-पानी में उत्पन्न हुए कमल आदि, थलज-पृथ्वी पर उत्पन्न हुए चम्पक आदि यह दो भेद हैं। उनके भी वींटवाले और नालीवाले यों चार भेद हुए। इनमें संख्यात, असंख्यात या अनन्त जीव होते हैं।

और देखिये, उन्हीं के छपवाये हुए "समवायांग" सूत्र में चौंतिस अतिशयों के अधिकार में पृष्ठ २३६ में ऐसा पाठ है—"जल थल भासुरपभूतेणं विंटाट्ठावीया दसद्धवन्नेणं कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फे वियारे किज्जई" "बहुत सुगंधित व तेजवन्त जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि व स्थल में उत्पन्न होने वाले चम्पकादि पंच वर्ण वाले पुष्पों का जानु प्रमाण ढेर होता है।"

स्थानकवासी समाज द्वारा प्रकाशित "समवायांग सूत्र" की एक प्रति में तो ऊपर मुजब अर्थ हमारे देखने में आया है, परन्तु उसी आवृत्ति की दूसरी प्रति में 'जल स्थल के उत्पन्न हुए "जैसे" यह शब्द अपनी तरफ से ज्यादा डाल दिया है। इससे मालूम होता है कि पहिले तो सच्चा अर्थ लिख दिया और कुछ प्रतियाँ बंट भी गई; किन्तु फिर मत पक्ष से "जैसे" शब्द अधिक रखकर अर्थ बदल दिया। ऐसा झूठा अर्थ करना उचित नहीं है। उन्हें तनिक परभव से भी डरना चाहिये। प्राचीन प्रतियों में तथा टीकाओं में सच्चा अर्थ लिखा हुआ प्रसिद्ध ही है। युक्ति व सम्बन्ध से भी ऊपर मुजब ही सच्चा अर्थ होता है। इसलिये आग्रहवश अर्थ बदलने पर भी सच्चा अर्थ कभी छिप नहीं सकता। अस्तु, सिद्धान्त के एक अक्षर को बदलने एवं अर्थ विपरीत करने से अनन्त संसार परि-भ्रमण करना पड़ता है; तो ऐसे दुष्कृत्य करने वालों की क्या गति

होगी ? । जैन-शास्त्रों में नयवाद शैली की रचना बड़ी ही गहन है। उसका भेद गुरुगम विना समझना अति ही दुर्लभ है। जिस तरह समवसरण में धर्म-देशना देते समय भगवान को जिनवर कहकर भक्त जीव मानते पूजते हैं; उसी प्रकार "नैगमनय" की अपेक्षा से जन्म समय द्रव्य जिनको भी सूत्रकारों ने जिनवर कहे हैं। इसलिये ऊपर में वतलाये मुजव जिन-प्रतिमा अर्थात् स्थापना जिन-प्रतिमा को जिनराज मानकर मानने पूजने योग्य है। वैसे ही द्रव्य जिन भी मानने, पूजने योग्य हैं। इसलिये खास मूल सूत्रों में द्रव्यजिन को जिनवर मान्य करके ही जन्माभिषेक की इतनी विधि वतलाई है। जिससे सूत्रानुसार स्थापना जिन, द्रव्य जिन, नाम जिन, भाव जिन यह चार अवस्था (दशा, निक्षेप) माननीय हैं। जिस पर भी स्थानकवासी एवं तेरहपंथी केवल एक भाव जिन मानकर नाम, स्थापना, द्रव्य इन तीनों को नहीं मानने का कहते हैं, यह उचित नहीं है। क्योंकि देखो—तीनों दशा भाव शुद्धि के हेतु होने से भाव जिनके समान ही मानने योग्य है। जिस तरह दान, शील, तप और भाव ये धर्म के चार भेद वतलाये हैं। उसमें दानादि भाव शुद्धि के हेतु होने से इन तीनों को भी मुक्ति का साधन वतलाया है। जिस पर भी एक केवल भाव ही को मानकर दानादि तीनों को त्याग करने वाला, धर्म मर्यादा का उत्थापन करने वाला समझा जाता है। उसी तरह से भाव जिन को मानकर नाम, स्थापना, द्रव्य आदि का निषेध करने वाले धर्म कार्य में वहुत अन्तराय डालते हैं। यहाँ पर यह विचार करने की वात है कि साक्षात समवसरण में भगवान के सामने भी यदि आत्मा के भाव शुद्ध न हुए तो उसका कल्याण कभी न होगा; और साक्षात भगवान के अभाव में भी भगवान की मूर्ति को वन्दन, पूजन करते समय भगवान के ज्ञानादि अनन्त गुणों के स्मरण में भाव चढ़ जावें तो निस्संदेह अवश्य ही आत्म कल्याण होगा। इस तरह मूर्ति द्वारा अतीत काल में अनन्त जीवों का कल्याण हुआ है, वर्तमान में होता है—और

३—वर्धमान सरावसम्पुट यानी चौदह राजलोक के आकार की रचना करते समय ऐसी भावना भाते हैं कि—हे भगवन्! आप चौदह राजलोक के ऊपर मुक्ति में विराजमान हुए हैं। वैसे ही मेरे भी चौदह राजलोक में जन्म-मरण आदि का परिभ्रमण छूटकर मुक्ति की प्राप्ति हो।

४—कुम्भकलश की रचना करते समय ऐसी भावना भाते हैं कि हे भगवन्! जिस प्रकार निर्मल जल से भरा हुआ कलश मंगलीक माना जाता है। वैसे ही आप भी ज्ञान धर्म आदि सम्पूर्ण गुण सहित भक्तजनों के मनोरथ पूर्ण करने वाले हैं। इसलिए मेरे भी कर्म-क्लेश को काटकर मुक्ति के मंगलीक सुख को देने वाले हों।

५—मत्स्य युगल (मछली का जोड़ा) की रचना करते समय ऐसी भावना भाते हैं कि जिस प्रकार मत्स्य समुद्र में रहकर भी तृषातुर रहता हुआ जलकी आशा से इधर उधर भटकता हुआ अपना जीवन पूर्ण कर देता है; मगर जल की तृष्णारूप आशा का अन्त नहीं आता है। इसी प्रकार इस संसाररूप समुद्र में भी प्राणी राग, द्वेष से रति-अरति रूप आशा तृष्णा से व्याकुल होकर चौरासी लक्ष जीवयोनियों में भटकते फिरते हैं परन्तु कहीं भी शान्ति नहीं मिलती है। इसलिये हे भगवन्! मेरे राग द्वेष से रति अरति रूप आशा तृष्णा की शान्ति होकर, संसार समुद्र का पार हो और मुक्ति में शान्ति पूर्वक स्थिरवास हो। अथवा जिस प्रकार किसी की विना सहायता ही मत्स्य स्वयं ही तैर कर समुद्र के किनारे पहुँच जाता है, उसी प्रकार हे भगवन्! आप भी किसी अन्य की सहायता विना ही स्वयं आत्म शक्ति से संसार रूपी समुद्र तैर कर पार पहुँचे हैं, वैसे मुझे भी संसार समुद्र से पार करो। अथवा इस संसार में ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देव, दानव,

राजा, महाराजा आदि सब भी [illegible] और भोग (कनक, कामिनी) रूप समुद्र में डूबे हुए हैं, परन्तु आप इन समुद्रों से पार हो गये हैं। वैसे ही मेरे को भी कंचन कामिनी रूपी समुद्र से पार उतारो।

६—श्रीवत्स की रचना करते समय ऐसी भावना करे कि हे जिनवर! इस संसार में प्राणी-हिंसा, विश्वासघात, परनिंदा, परद्रोह, स्वार्थवृत्ति, क्रोधादि कषाय, राग, द्वेष आदि दुष्ट वासनाओं से जगत के जीवों के हृदय कमल मलिन हो गए हैं। इससे लोगों का हृदय कर्मों के भार से नीचा झुका है, परन्तु आपके हृदय में विश्व प्रेम, सत्योपदेश आदि परोपकार की बातों का वास होने से सदा प्रफुल्लित, उज्ज्वल और ऊपर को उठा हुआ रहता है, तथा आपने हृदय कमल में शत्रु, मित्र, पूजक और निन्दक के ऊपर समभाव धारण किया है, और संसार में जन्म मरण आदि होने का हेतु-भूत राग द्वेष रूपी अग्नि को शान्तिरूपी अमृत का जल सिंचन करके सर्वथा नाश कर दिया है। अथवा जिस तरह सर्दी में वर्फ गिरता है, वह ठण्डा होने पर भी वनखंड को जला देता है। उसी प्रकार राग द्वेष रूप संसार परिभ्रमण के बीज रूप कषायों को आपके हृदय कमल की उपशम (क्षमा) ने जला दिये हैं और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, परोपकार आदि गुण रत्नों का निवास रूप आपका हृदय होने से मानो हर्ष से सहस्र दल (हजार पांखड़ी वाला) कमल की तरह ऊपर में उठ आया है। वैसे ही हमारे हृदय में भी परद्रोह आदि दुर्गुणों का नाश होकर शुद्ध ज्ञानादि गुण-रत्नों का वास हो।

७—तीन ढगली सहित ऊपर में अर्द्ध चन्द्राकार वाला और नीचे चार कोने वाला स्वस्तिक (साथिया) की रचना करते समय ऐसी भावना करते हैं कि हे भगवन्! आपने अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र रूप रत्नों के तीन समूहों को प्राप्त किये हैं,

प्त हो मेरे को भी इन तीन रत्नों के पुंज की प्राप्ति हो। ऐसा विचार करते हुए पहले तीन ढेर करते हैं, फिर जब भगवान ने अपने ज्ञानादि रत्नों को प्राप्त करके नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति ये चार गति रूप संसार परिभ्रमण का नाश किया है, वैसे ही मेरे भी इन चार गतियों का नाश हो, ऐसा विचार करते हुए चार कोने वाला स्वस्तिक बनाते हैं। और आप चार गति का भ्रमण समाप्त करके सिद्धशिला के ऊपर मुक्ति में विराजमान हुए हैं, वैसे ही मेरे को भी मुक्ति की प्राप्ति हो। ऐसा विचार करते हुए अर्द्ध चन्द्राकार सिद्धशिला के ऊपर मुक्ति का स्थान बनाते हैं।*

८—नन्दावर्त बनाते समय ऐसी भावना करते हैं कि हे भगवन्! आप संसार रूप माया जाल से छूटकर नवतत्त्वों के स्वरूप का भव्य-जीवों को उपदेश देकर, मुक्ति का मार्ग बतलाकर, मोक्ष में विराजमान हुए हैं। वैसे ही मेरे भी संसार की माया-जाल का नाश होकर, नवतत्त्वों की सम्पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति होकर, मुक्ति का लाभ हो, इसलिये नवतत्त्वों के स्वरूप वाला नन्दावर्त बनाते हैं।

इस प्रकार तत्वस्वरूप से अष्ट-मंगल की रचना आठ कर्मों का नाश करके अक्षय सुख की देने वाली है। इसलिये इन्द्रादिक देव देवी, श्रावक और श्राविकायें भगवान की पूजा करते समय अष्ट मंगल की रचना करते हैं।

जिस प्रकार इन्द्र ने भगवान का जल का अभिषेक (स्नान) व विलेपन करके अंग पूजा की, तथा अष्ट मंगल की रचना व धूपादि से अग्रपूजा की और १०८ श्लोकों से स्तुति करके व "नमुत्थुणं"

---

* पाठकगण! आपको इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव करना हो तो विवेक वाले भक्तगण जब जिन-मन्दिर में दर्शन करते समय स्वस्तिक बनाते हैं तब स्वयं जाकर देख सकते हैं।

तलाया है। इसी तरह पहिले जिनराज की अंग पूजा या अग्रपूजा
रेगा तब उसके अनुसार भाव-पूजा करके आत्म-कल्याण कर
केगा, परन्तु द्रव्य-पूजा किये बिना भाव-पूजा करने का लाभ
भी को नहीं मिल सकता। इस हेतु मोह-माया से चित्त को हटाने
लिये, और जिनराज के गुणों में चित्त को लगाने के लिये
व्य-पूजा की खास आवश्यकता है। इसलिये द्रव्य पूजा का
षेध करना सर्वथा अनुचित है।

स्थानकवासी कहते हैं कि—एक पत्थर के चार टुकड़े करके
क गाय, दूसरा सिंह, तीसरा पुरुष और चौथे टुकड़े से भगवान की
तिमा बनाई, उसमें पत्थर की गाय दूध दे, पत्थर का सिंह किसी
ो मारे और जिसका पति मर गया हो वह स्त्री पति की पत्थर की
र्ति बनाकर घर में रखे, उससे सन्तान की प्राप्ति हो; तो पत्थर के
ने भगवान की मूर्ति की भक्ति करने से मुक्ति हो सके अन्यथा
हीं। यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि देखिये, गाय का नाम जपने
भी गाय दूध नहीं देती, इसलिये स्थानकवासियों को भगवान
ी मूर्ति की तरह भगवान के नाम का स्मरण भी त्याग देना
ाहिये। यदि यह कहेंगे कि भगवान का नाम स्मरण करने से हमारे
ाव शुद्ध होते हैं, तो इसी तरह से हमारे भाव भी भगवान की
ूर्ति देखने से विशेष शुद्ध होते हैं। और पत्थर की गाय को कोई
ी मनुष्य गाय का भाव करके मारेगा तो उसको गाय मारने का
ाप अवश्य ही लगेगा, तथा पत्थर के सिंह को सिंह मारने का भाव
रके निशाना लगाकर, शस्त्र चलाकर, उसके टुकड़े करके सिंह
ारने की खुशी मनावेगा तो उसको सिंह मारने का पातक भी
अवश्य ही लगेगा। और जिस स्त्री के पति मर जाने पर कालान्तर
में उसका मोह कम होने से विषय-विकार के कर्म नहीं बन्धेंगे, परन्तु
पति की मूर्ति बनाकर घर में रखने से, हर समय पति की मूर्ति
देखने से पति की याद आती ही रहेगी, उससे (मूर्ति-दर्शन से)

पुष्पार्चन

—:*:—

श्रावक लोग मोक्ष की प्राप्ति के लिये जिनराज की पुष्पादि से [illegible] करते हैं, इस बात का रहस्य समझे बिना ही कितने ही लोग [illegible]को हिंसा ठहरा कर निषेध करते हैं। यह उनकी नासमझी है, क्योंकि मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और अशुभयोग यही कर्म-बन्धन के हेतु हैं। जिनपूजा में इन कारणों का अभाव है, किन्तु सम्यग्दर्शन, अप्रमाद, शुभ-उपयोग, शुद्ध और शान्त ज्ञान-दशा व जिनराज की भक्ति में, तीर्थंकर परमात्मा के ज्ञान, दर्शनादि अनन्त गुणों का स्मरण, ध्यान, वैराग्य-भावना आदि अपूर्व अनेक गुण प्रत्यक्ष हैं। इसलिये जिनपूजा में, अनन्त पुण्य-राशि बंध कर, अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है, अनुक्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है। साधु विहार में नदी उतरता है, वर्षा में ठल्ले मात्रे (शौच) जाता है, प्रतिलेखन आदि करता है। राजा, महाराजा, सेठ, सेनापति आदि अपनी राज्य-ऋद्धि के साथ बड़ी भारी सवारी लेकर तीर्थंकर भगवान की वन्दना करने जाते हैं, और इन्द्रादि देव भगवान का जन्माभिषेक, समवसरण की रचना दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणकों का महोत्सवादि करते हैं। इन सब में थोड़ीसी द्रव्य-क्रिया लगती है, परन्तु सम्यग्दर्शन, ज्ञान सहित शुद्ध उपयोग पूर्वक, धर्म-कार्य होने से पुण्यानुबन्धी पुण्य और अशुभ कर्मों की निर्जरा होकर आत्म-हित होता है। उसी प्रकार देव, देवी और श्रावक, श्राविका जिनपूजा करते हैं। उसमें जिनराज की शुभ-भक्ति होने से निर्जरा आदि का हेतु है, तोभी

हिंसा कह कर मनाही करने वाले, स्थानकवासी भाई नहीं
जिनराज के गुणों का स्मरण, ध्यान आदि जिन-भक्ति के
भव्य जीवों के आत्म-कल्याण में मददगार होने का मर्म जानते हैं।
देखो व्यवहार दृष्टि से भी पुष्पादि से जिनपूजा करने में लि
दया है किन्तु हिंसा नहीं है। माली लोग बाजार में फूल बेचने के
आते हैं। उनको गांधी (गंधी, अत्तार) मोल लेकर अर्क निका-
ने के लिये भट्टी पर चढ़ाते हैं। कामभोग के लिये, गृहस्थ लो
लेकर अपने शरीर पर या शैया पर डालते हैं, उससे उन फूलों के
जीवों को अनेक तरह की पीड़ा होती है। और पूजा भक्ति के लि
फूल लेकर चढ़ा देने से मरते हुए जीव को पांजरापोल में रखने
की तरह फूलों के जीवों को अभयदान मिलता है। तथा जिन
भक्ति का अनन्त लाभ, विशेषता से होता है। वैसे भी सुन्दर
लगते हैं, भव्य-जीव जिनराज के दर्शन कर, भक्ति गुण में अनन्त
लाभ लेते हैं। इत्यादि अनेक लाभ को पाप बतलाकर, मनाही कर
देना यह बड़ा भारी अज्ञान है। फिर भी देखिये, पूजा नहीं करने
वाले संसारी मोह-माया प्रपंच में कर्म बन्धनों के हेतु में सम
गमाते हैं, तथा नदी, तालाब आदि बिना छाने अपार जल में स्ना
करके अनन्तकाय वगैरह, अनेक त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा क
पाप लेते हैं। और पूजा करने वाले, छाने हुए थोड़े से जल
निर्जीव शुद्ध सूखी भूमि में स्नान करते हैं। उससे भी बहुत पा
का बचाव होता है, और जितनी देर तक पूजा-भक्ति करते रह
वहां उतने समय तक पूजा करने वाले के राग, द्वेष, कषाय आदि
१८ पाप छूटते हैं। बाल, बच्चे, स्त्री, कुटुम्ब व दुकानदारी की
मोह-माया का त्याग होता है, आर्त, रौद्र दुर्ध्यान रहित हो कर बड़ी
ही शान्तदशा प्राप्त होती है। तथा जिनराज के गुणों का स्मरण
ध्यान से अनन्त लाभ होता है जिस का पार ही नहीं है। जिससे
कभी वहां पर भाव चढ़ जावे तो नागकेतु की तरह घनघाती

मों का क्षय करके केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हो जावे। उसे अनेक जीवों का उद्धार करके मोक्ष में जावें। इस प्रकार जिनपूजा में अनंत लाभ प्रत्यक्ष में है, तो भी ऐसे लाभ को हान्त पाप बतलाकर, निषेध करके अनेक भव्य-जीवों के आत्म-कल्याण का उच्छेद करना व कुयुक्तियों से भोले जीवों को बहका र संसार बढ़ाने वाला मिथ्यात्व रूप उन्मार्ग में डालना, यह कितना बड़ा भारी पाप है। इस बात की विशेषता से पाठक गण! आप ही विचार कर सकते हैं।

कितने ही ऐसा भी कहते हैं कि हाँ, निर्दोष फूल आदि से जिन-पूजा करने में चित्त की समाधि, शुभ-ध्यान से ऊपर में बतलाये मुजब अनन्त लाभ मिलता है, परन्तु कई लोग फूलों की पूजा के लिए खास बगीचा लगाकर, फूल तोड़कर चढ़ाते हैं। उससे ही फूलों के जीवों को कष्ट होता है, यही हिंसा है। इसलिये हम पूजा में पाप बतलाकर सर्वथा पूजा का ही निषेध करते हैं। यह भी बड़ी भूल है। क्योंकि विधि और अविधि सब धर्म-कार्यों में होती है. जिस तरह निर्दोष, शुद्ध आहार साधु को देने से देने वाले को मोक्ष मिलता है, यह दान की विधि है। परन्तु कितने ही दृष्टिरागी भक्त लोग बहुत बार खास साधु के लिये छहकाय की हिंसा करके, आहार आदि बना कर साधु को देते हैं और साधु भी मोह, लोभ, प्रमाद और स्वाद आदि कारणों से जानते हुए भी आधाकर्मी सदोष आहार लेते हैं, यह अविधि शास्त्रविरुद्ध है और साधु श्रावक दोनों के दोष का हेतु है। इसलिए उपदेश देकर ऐसी अनुचित रीति को सुधार कर निर्दोष शुद्ध दान देने की उचित रीति की प्रवृत्ति करवाना, यही सब जैनियों का कर्त्तव्य है। परन्तु दान की अविधि देख कर सर्वथा दान-धर्म का निषेध करने से महान् अन्तराय कर्म बंधता है। जिन आज्ञा की उत्थापना होती है; तथा साधु को दान

लेने का व गृहस्थ को दान देने का दान-धर्म उठ जाता है तो बड़ा ही अनर्थ होता है। इस प्रकार सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धर्म कार्यों में किसी की निन्दा, विकथा, कपाय, प्रमाद वगैरह से अविधि करते देख कर सामायिक आदि धर्म-कार्यों का सर्वथा निषेध नहीं कर सकते, किन्तु अविधि करने वालों को उपदेश देकर समझाकर, अविधि छुड़वा कर, विधि से करना बतलाना चाहिये वैसे ही फूलादि से जिन-पूजा में किसी को अविधि करते देख कर सर्वथा जिन-पूजा का निषेध करने से अनेक तरह के अनर्थ होते हैं। देखो—

१— करोडों रुपयों की लागत के हजारों जैन मन्दिरों की अव्यवस्था हो गई है। बडी २ आशातनाएँ होती हैं।

२— अन्य दर्शनियों में जैन-शासन की निन्दा हो करके, लोगों के कर्म बंधन हो रहे हैं।

३— भक्त लोगों के जिनराज की भक्ति में अन्तराय पड़ा। पूजा करने वालों के शुभध्यान से आत्म-कल्याण का उच्छेद हुआ।

४— पूजा का निषेध करने के लिये झूठी युक्तियां बनाने का प्रपंच करना पड़ा है।

५— सैकड़ो जगह मूल आगमों के पाठ व अर्थ बदलने पड़े।

६— पूजा भक्ति करने वालों की निन्दा करते हुए अवर्णवाद बोलने पड़ते हैं।

७— जिन-पूजा की निन्दा करने के लिये प्रत्यक्ष झूठी बातें लिखकर, शास्त्राज्ञा विरुद्ध हो कर पुस्तकें छपवानी पड़ती है।

८—जिन-पूजा का निषेध फैलाने के लिये, गौतमस्वामी आदि सर्व साधुओं को हमेशा मुंहपत्ति बांधी रखने का झूठा दोष लगाकर और हाथ में मुँहपत्ति रख कर, बोलने के समय मुँह की यतना करने की अनादि, सच्ची मर्यादा का उत्थापन करके, जिन आज्ञा विरुद्ध होकर हमेशा मुँहपत्ति बाँधने का नया वेष बनाना पड़ा है।

९—जिन पूजा सम्बन्धी ईर्ष्या, निन्दा से खंडन, मंडन का झगड़ा बढ़ाकर गांव-गांव में, घर-घर में क्लेश फैलाया है एवं श्वेताम्बर श्रावकों में भेद डालकर गांव-गांव, घर-घर में दो पक्ष कर लिये हैं।

१०—भोले लोगों को आगम-प्रमाण की अनादि सत्य बातों से छुड़ा दिया। और राग, द्वेष, कषाय, हठाग्रह रूप मिथ्यात्व में डाला है।

११—लाखों जीव जितनी देर तक प्रतिदिन जिन मंदिर में दर्शन पूजा करते रहते हैं उतने समय तक गृह कार्य के १७,१८ पापों का सेवन करना छुट जाता है। तथा जिनराज के गुणों की भावना में तल्लीन होकर संसार से पार होने का मूल कारण-भूत आत्म-गुण प्राप्त करते हैं। परन्तु जिन मन्दिर जाने का निषेध करने से आत्म-गुण प्राप्ति रूप महान शुद्ध-धर्म का नाश होता है।

१२—गृहस्थ गृहकार्य में १७,१८ पाप सेवन में तथा कुटुम्ब के मोह-माया में हमेशा कर्म बंधन करते हैं। उस पाप बन्धन के निमित्त कारण जिन-मंदिर जाने का निषेध करने वाले बनते हैं इत्यादि अनेक अनर्थ होते हैं। और जैसे कोई कौड़ी का खर्च देख कर, करोड़ों का लाभ गुमाने वाला नासमझ और अज्ञानी समझा जाता है, वैसे ही इन लोगों ने भी थोड़ी सी ऊपर की द्रव्य-हिंसा देखकर शुभ भाव-भक्ति रूप भाव-दया का अनन्त लाभ का नाश करके उपरोक्त अनेक अनर्थ खड़े कर दिए हैं। यह उनका अज्ञान है। सम्यग्दृष्टि वालों को अल्प खर्च न देखते हुए विशेष लाभ का कार्य करना उचित है।

——:०:——

क्या प्रतिमार्चन अवैध है ?

——:o:——

[जैन शासन में जिन-मूर्ति की पूजा अनादि काल से चली आती है, जिस पर भी पंडित वेचरदासजी ने अपना एक भाषण छपवाया है, उसमें जिन-मंदिर बनाने को व मूर्ति-पूजन के रिवाज को श्री वीरप्रभु के निर्वाण बाद बौद्धों की देखा-देखी से शिथिलाचारी साधुओं ने शुरू करने का ठहराने के लिये और देव-द्रव्य के रिवाज को नवीन साबित करने के लिए प्रत्यक्ष कई असंगत बातें लिखकर भोले जीवों की श्रद्धा भ्रष्ट करने का कारण किया है, उसका भी यहां पर प्रसंगवश समाधान लिखते हैं। उसके साथ साथ जिन-प्रतिमा के वंदन-पूजन करने का उत्थापन करने वाले स्थानकवासी और उनके साथी तेरहपंथियों की भी मूर्ति-पूजन विषयी कुयुक्तियों व शंकाओं का समाधान हो जावेगा।]

कई लोग जैन आगमों के अतीव गंभीर आशय को समझे बिना ही वर्तमानिक कई शब्द-कोशों को देखकर 'चैत्य' शब्द का अर्थ 'अग्नि संस्कार की जगह', स्तूप या स्मारक कहकर, जिनराज के मन्दिर बनवाने के व मूर्ति-पूजन करने के रिवाज को नवीन कहते हैं। यह उनकी भूल है। क्योंकि देखो वर्तमानिक सब शब्द कोशों से भी बहुत प्राचीन मूल जैनागमों के अनुसार 'चैत्य' शब्द से मन्दिर और मूर्ति अनादि काल से साबित होती है, देखिये— श्री भगवतीसूत्र के २० वें शतक के ९ वें उद्देश के छपे हुए छठवें पृष्ठ का पाठ नीचे मुजब है:—

"जंघाचारणस्स णं भंते ! तिरीयं केवतिए गतिविसए पन्नते ?
मा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं रुअगवरे दीवे समोसरणं
इ. रुअगवरे दीवे समोसरणं करइत्ता. तहिं चेइआइं वंदइ, तहिं
याइं वंदइत्ता तओ पडिनियत्तमाणे बिइएणं उप्पाएणं णंदीसरव-
वे समोसरणं करेइ. णंदीसरवरदीवे समोसरणं करइत्ता तहिं
याइं वंदइ, तहिं चेइयाइं वंदइत्ता इहमागच्छइ इहमागच्छित्ता इहं
याइं वंदइ, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवइए गतिविसए
ते। जंघाचारणस्स णं भन्ते ! उड्ढं केवतिए गतिविसए पन्नत्ते ?
मा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं पंडगवणे समोसरणं करेति,
वणे समोसरणं करइत्ता तहिं चेइयाइं वंदति, तहिं चेइयाइं वंदइत्ता
पडिनियत्तमाणे बितिएणं उप्पाएणं नंदनवणे समोसरणं
ति, नंदनवणे समोसरणं करइत्ता तहिं चेइयाइं वंदति, तहिं
याइं वंदइत्ता इह आगच्छइ, इह आगच्छइत्ता इह चेइआइं वंदति,
चारणस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवतिए गति विसए पन्नत्ते।"

विज्जाचारणस्स णं भन्ते ! तिरियं केवतिए गतिविसए पन्नत्ते ?
मा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं माणुसुत्तरे पव्वए समोसरणं करेति
इत्ता तहिं चेइयाइं वंदति, तहिं चेइयाइं वंदइत्ता बितिएणं उप्पा-
नंदीसरवरे दीवे समोसरणं करेति, नंदीसरवरे दीवे समोसरणं
इत्ता तहिं चेइयाइं वंदति, तहिं चेइयाइं वंदइत्ता तओ पडिनिय-
, तओ पडिनियत्तइत्ता इहमागच्छइ, इहमागच्छइत्ता इह चेइ-
वंदति, विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवतिए गतिविसए
ते॥ विज्जाचारणस्स णं भन्ते ! उड्ढं केवतिए गतिविसए पन्नत्ते ?
मा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं नंदनवणे समोसरणं करेइ,
नवणे समोसरणं करइत्ता तहिं चेइयाइं वंदति, तहिं चेइयाइं
इत्ता बितिएणं उप्पाएणं पंडगवणे समोसरणं करेति, पंडगवणे
ोसरणं करइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, तहिं चेइयाइं वंदइत्ता तओ
नियत्तइ, तओ पडिनियत्तइत्ता इहमागच्छइ, इहमागच्छइत्ता

इहं चेइयाइं वंदति, विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवतिए विसए पन्नत्ते ।,

देखिये ऊपर के सूत्र पाठ में जंघाचारण लब्धिवान् मुनि से एक डगले में १३ वां रुचकवरद्वीप में जावे, जाकर चैत्य वंदे. अर्थात्–शाश्वत जिन मंदिरों में शाश्वत जिन-प्रतिमाओं को वंदना करें, पीछे लौटते हुए दूसरे डगले में नंदीश्वरद्वीप में आवें, वहां पर भी शाश्वत चैत्यों में जिन-प्रतिमाओं को वंदना करें, पीछे यहां आवें, वंदना करके पीछे यहां पर आकर यहां के अशाश्वत चैत्यों में अशाश्वत जिन-प्रतिमाओं को वंदना करें, और ऊँचे ऊर्ध्व गति करके एक डगले में मेरुपर्वत के पांडुकवन में जावें, वहां पर जाकर वहां के चैत्यों में जिन-प्रतिमाओं को वंदना करें, वहां से दूसरे डगले में नीचे नंदनवन में आवें, वहां के भी चैत्यों को वंदना करें, पीछे लौट कर यहां आवें, यहां के चैत्यों को भी वंदना करें।

इसी तरह से विद्याचारण लब्धिवान् मुनि भी पहिले एक डगले में मानुषोत्तर पर्वत के ऊपर जाकर वहां चैत्य की वंदना करके दूसरे डगले नंदीश्वरद्वीप में जाकर के वहां के भी चैत्यों को वंदना करके, पीछे यहां पर आकर, यहाँ के चैत्यों को वंदना करें। ऊँची गति करके मेरुपर्वत के नंदनवन में जाकर वहाँ चैत्य की वंदना करके, दूसरे डगले में पाँडुकवन में जाकर वहाँ के चैत्यों को वंदना करके, पीछे यहाँ आवें, यहां के चैत्यों को भी वंदना करें। यह बात गौतमस्वामी ने जंघाचारण–विद्याचारण मुनियों की शक्ति के विषय में भगवान् को पूछी तब वीर भगवान् ने खुलासा कही है।

इसी तरह से इसी 'भगवती सूत्र' के तीसरे शतक के दूसरे उद्देशा के पृष्ठ १७४ में हैं "अरिहंते वा अरिहंत चेइयाणि वा अणगारे वा भावियप्पाणो णिस्साए उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो" इस पाठ में भी जब कभी असुरकुमार देव ऊँचे सौधर्म देवलोक [illegible]

जावे तब अरिहंत भगवान का या अरिहंत चैत्य का अर्थात् जिन मन्दिर में जिन-प्रतिमा का अथवा भावित आत्मा अणगार का, इन तीन सरणों में से कोई भी एक सरणा लेकर ऊपर जाता है, ऐसा खुलासा पूर्वक कहा है।

जैसे मुनि शाश्वत और अशाश्वत चैत्यों में जिन-प्रतिमाओं को वन्दना करते हैं, वैसे ही देव, देवी, श्रावक, श्राविकाएँ भी शाश्वत और अशाश्वत जिन-प्रतिमाओं की द्रव्य-भाव से पूजा करते हैं। इसलिये 'जीवाभिगम सूत्र' में जिन-प्रतिमा की पूजा मोक्ष-फल देने वाली कही है। छपे हुए सूत्रवृत्ति के पृष्ठ २३७ वें का पाठ देखिए:—

"विजयस्स देवस्स पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गयस्स इमे एयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—"किं मे पुव्वं सेयं, किं मे पच्छा सेयं, किं मे पुव्विं करणिज्जं, किं मे पच्छा करणिज्जं, किं मे पुव्विं वा पच्छा वा हियाए, सुहाए, खेमाए, णीस्सेसयाए, अणुगामियत्ताए, भविस्सती तिकट्टु; एवं संपेहेति।" तते णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा विजयस्स देवस्स इमं एतारूवं अज्झत्थितं, चिंतियं, पत्थियं, मणोगयं, संकप्पं समुप्पण्णं जाणित्ता, जेणामेव से विजए देवे तेणामेव उवागच्छंति, तेणामेव उवागच्छित्ता विजयं देवं करतलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, जएणं विजएणं वद्धावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं विजयाए रायहाणीए "सिद्धायतणंसि अट्ठसतं जिणपडिमाणं" जिणुस्सेहपमाणमेत्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठंति, सभाए य सुधम्माए माणवए चेतियखंभे वइरासएसु गोलवट्टसमुग्गतेसु बहूओ "जिणसकहाओ" सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं देवाणुप्पियाणं अन्नेसिं च बहूणं विजयरायहाणिवत्थव्वाणं "देवाणं देवीण य अच्चणिज्जाओ, वंदणिज्जाओ, पूजणिज्जाओ, सक्कारणि-

[illegible]णो, [illegible]णो, [illegible] सेयं [illegible] पुव्विं पच्छा-
णिज्जाणो, एतएणं देवाणुप्पियाणं पुव्विं पि सेयं, एतएणं देवा-
णुप्पियाणं पच्छा वि सेयं, एतएणं देवाणुप्पियाणं पुव्विं पच्छा वि
करणिज्जं, एतएणं देवाणुप्पियाणं पुव्विं पच्छा वा हियाए सु-
खेमाए णीस्सेसयाते आणुगामियत्ताते भविस्सति"

देखो इस पाठ में "विजयदेव" उत्पन्न हुआ, पर्याप्ति पूरी हु
बाद अभिलाषा पूर्वक मन में चिन्तवन (विचार) करने लगा कि
पहिले और पीछे, इसभव में और परभव में श्रेय कल्याणरूप, हि
के लिये, सुख के लिए, तथा इस भव में और परभव में शुभ अनु
बंधरूप, परम्परा से मेरे साथ में चलने वाला, क्षेम के लिये, मोक्ष
के लिये, मेरे को यहां पर ऐसा क्या शुभ कार्य करने योग्य है, तब
"विजयदेव" का विचार उनके सामान्य पर्षदा के देवों ने जाना, तब
उनके पास में आकर विनय सहित भक्ति-युक्त दोनों हाथ जोड़ कर
कहने लगे कि हे देवानुप्रिय! यहाँ पर "सिद्धायतन" [जिन
मंदिर] में "१०८ जिन प्रतिमाएँ" हैं, तथा सुधर्मा-सभा में माण
वक नामा चैत्यस्थंभ में बहुत "तीर्थंकर भगवानों" की डाढ़ाएँ हैं,
जो बहुत देव के और देवियों के अर्चनीय (पूजनीय), वंदनीय,
सत्कार करने योग्य तथा सन्मान करने योग्य, कल्याण मंगल रू
देव के चैत्य की तरह सदा सेवा करने योग्य हैं। जिन प्रतिमा के
पूजन करने रूप यह शुभ कार्य आपके इसभव में और परभव में
हितकारी, सुखकारी, क्षेम करने वाला, निर्वाण देने वाला, श्रेय
कल्याण रूप होने से पहिले और पीछे भी करने योग्य हैं। ऐसे
देवों के वचन सुनकर विजयदेव बड़ा हर्षित हुआ, वहां से उठ
अभिषेक सभामें आया, अभिषेक हुए बाद बहुत परिवार सहित
सिद्धायतनमें जाकर भाव-भक्ति सहित जिनपूजा की है। जीवाभिगम
के पृष्ठ २४६-२५० वें का पाठ देखोः—

कहा है।

जैसे देव, देवी जिन-प्रतिमा की द्रव्य-पूजा करते हैं,
श्रावक-श्राविकाएँ भी जिन-प्रतिमा की द्रव्य-पूजा करते हैं,
सूत्र" के १६ वें अध्ययन छपे हुए सूत्रवृत्ति के पृष्ठ २१
पाठ देखिये:—

"दोवईरायवरकन्ना जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवा
उवागच्छित्ता ण्हाया कयबलिकम्मा, कयकोउयमंगलपाय

इसणाविसाइं मङ्गलाइं वत्थाइं पवरपरिहिया, मज्जणघराओ पडिनिक्ख-
इ पडिनिक्खमित्ता जेणेव "जिणघरे" तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छि-
त्ता 'जिणघरं' अणुपविसइ, अणुपविसित्ता 'जिणपडिमाणं' आलोए
पणामं करेइ, करइत्ता लोमहत्थगं परामुसइ, 'एवं जहा सूरियाभो
जिणपडिमाओ अच्चेइ, तहेव सव्वं भाणियव्वं' जाव धूवं डहइ,
डहइत्ता वामं जाणुं अंचेति २ दाहिणं जाणु धरणियलंसि णिवेसेति
णिवेसित्ता तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणियलंसि नमेइ नमइत्ता ईसिं
पच्चुण्णमति करयल जाव कट्टु एवं वयासी—नमोऽत्थु णं अरि-
हंताणं, भगवंताणं, जाव संपत्ताणं वंदइ, नमंसइ।"

देखो इस पाठ में राजकुमारी 'द्रौपदी श्राविका' ने स्नान किया,
घर में देव पूजा की, शुद्ध निर्मल वस्त्र पहिने बाद बड़े 'जिनमन्दिर'
में प्रवेश किया वहाँ पर 'जिनराज' की 'प्रतिमा' को देखकर नम-
स्कार किया। उसके बाद 'जिन-प्रतिमा' का प्रमार्जन करके पूजन
किया सो 'सूर्याभदेव' की तरह 'जाव शब्द' से "जिणपडिमाणं
लोमहत्थएणं पमज्जति, पमज्जित्ता सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेति,
ण्हाणइत्ता दिव्वाए सुरभिगंधकासाइए गाताइं लूहेति, लूहइत्ता
सरसेणं गोसीसचंदणेणं गाताणि अणुलिंपइ, अणुलिंपेत्ता 'जिणप-
डिमाणं' अहयाइं सेताइं दिव्वाइं देवदूसजुयलाइं णियंसेइ, नियं-
सेत्ता, अग्गेहिं वरेहि य गंधेहि य मल्लेहि य अच्चेति, अच्चइत्ता
पुप्फारुहणं गंधारुहणं मल्लारुहणं वण्णारुहणं चुण्णारुहणं आभ-
रणारुहणं करेति, करइत्ता आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारितमल्लदाम-
कलावं करेति, करइत्ता अच्छेहिं सण्हेहिं रययामएहिं अच्छरसा-
तंदुलेहिं 'जिणपडिमाणं' पुरतो अट्ठट्ठमङ्गलए आलिहति। तं जहा—
सोत्थियसिरिवच्छ जाव दप्पण अट्ठटमंगलगे आलिहति, आलि-
हित्ता कयग्गहग्गहितकरतलपब्भट्ठविप्पमुक्केण दसद्धवन्नेणं कुसु-
मेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलितं करेति, करित्ता तयाणंतरं च णं चंदप्प-
भरयणवइरवेरुलियविमलदण्डं कंचनमणिरयणभत्तिचित्तं काला-

गुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघंतगन्धुत्तमाणुविद्धं धूमवट्टिं विणिम्मु यंतं वेरुलियमयं कडुच्छुयं पग्गहित्तु पयत्तेण 'धूवं दाऊण जिणवराणं' अट्ठसय (१०८) विसुद्धगंथजुत्तेहिं महावित्तेहिं अत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं संथुणइ, संथुणित्ता सत्तट्ठ पयाइं ओसरति' इत्यादि पं० बेचरदासजी सम्पादित 'राजप्रश्नीय सूत्र' के पृष्ठ २५५ के इस मूल पाठ मुजब—द्रौपदी श्राविका 'जिन-प्रतिमा' को सुगन्ध वाले निर्मल शुद्ध जल से स्नान (प्रक्षालन) करावे, गन्ध कसायवस्त्र सुगन्धि युक्त दिव्य मनोहर वस्त्र से अङ्गलुहण [अङ्ग पूँछन] करे, बावन चन्दन से अङ्ग विलेपन (अङ्ग पूजन) करे, सुगन्धि युक्त अच्छे अच्छे पुष्प चढावे. देवदूष्य उत्तम वस्त्र युगल चढावे, पुष्पों के हार चढावे, अतरादि गन्ध चढावे, सुगन्ध वाले चूर्ण का प्रक्षेप करे, मुकुट-कुण्डलादि आभूषण चढावे, और 'जिनप्रतिमा' के आगे स्वस्तिक (साथीया), श्रीवच्छ वगैरह अष्ट मङ्गल आलेखे (रचना करे) तथा प्रफुल्लित पाँचवर्ण के पुष्पों का प्रकर भरे (ढेर करे), उसके बाद रत्नजडित स्वर्ण के डण्डवाले धूपधाने में अग्नि पर सुगन्धि दशाङ्ग धूप गेरकर श्रीजिनेश्वर भगवान को [जिन-प्रतिमा को] धूप करे तथा बहुत भक्ति से दोनों हाथ जोडकर बड़े विस्तार युक्त अर्थ वाले १०८ श्लोकों से जिनराज के गुणों की स्तुति करे। उसके बाद में सात अथवा आठ डगले पीछे हटकर वाम [डावा] जानु [गोडा] ऊँचा करे, दाहिना [जीमणा] जानु जमीन को लगाकर तीनवार मस्तक जमीन से लगाकर हुई कुछ मस्तक ऊँचा करके दोनों हाथ जोडकर उल्लसित चित्त से जिनराज की भावपूजा रूप नमुत्थुणं कहे; अर्थात् विधि सहित चैत्यवंदन करके वन्दना नमस्कार करे।

भक्ति-युक्त परिवार सहित ऋद्धि-समृद्धि के साथ में देवगुरु को वन्दना करने को जाना, शासन की प्रभावना करना, यथाशक्ति चतुर्विध सङ्घ की भक्ति करना और जिनराज (जिनप्रतिमा) की

व्य-पूजा करना वगैरह सम्यग्दर्शन की क्रियाएँ श्रावक, श्राविका व देव, देवियों के प्रायः समान होती हैं। इसलिए यहाँ पर अशाश्वत जिनमन्दिर में अशाश्वत जिनराज की प्रतिमा की पूजा करने के विषय में स्वयं सूत्रकार महाराज ने शाश्वत सिद्धायतन में शाश्वत जिन-प्रतिमा की 'सूर्याभदेव' के जैसी पूजा करने सम्बन्धी सूचना दी है, इससे सावित होता है कि देव, देवियों के और श्रावक श्राविकाओं के जिन-प्रतिमा की चन्दनादि वस्तुओं से द्रव्य-पूजा करने में कोई विशेष भेद नहीं है। किन्तु प्रायः समान ही मालूम होती है।

बावीसवें तीर्थंकर 'श्री नेमीनाथ' भगवान के शासन में भी जिनमन्दिर मौजूद थे और जिन-प्रतिमा को साक्षात् जिनराज के समान समझकर द्रव्य-भाव से पूजा करने में आती थी। इस आगम के प्रमाण से यह भी सावित होता है। जैन-शासन में पहिले से ही भक्ति भाव वाले श्रावक, श्राविकाएँ जिन-प्रतिमा को वन्दन-पूजन करते आते हैं, इसलिए महावीर प्रभु के मोक्ष पधारे बाद जैन शासन में शिथिलाचारियों ने मूर्ति-पूजा शुरु करवाई है, ऐसा कहने वाले प्रत्यक्ष मिथ्यावादी हैं।

उपासकदशाङ्गसूत्र में आनन्द श्रावक के अधिकार में "नो खलु मे भन्ते! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि अरिहन्तचेइयाणि वा वंदित्तए वा नमंसइत्तए वा" इस पाठ में 'आनन्दश्रावक' सम्यक्त्व सहित बारह व्रत अङ्गीकार किये बाद 'श्रमण भगवन्त श्रीमहावीर स्वामी' को वन्दना-नमस्कार करके कहने लगा कि—हे भगवन्! आज से मेरे को, अन्य दर्शनियों को या अन्य दर्शनियों के देवों को अथवा अन्य दर्शनियों द्वारा ग्रहण किये हुए अरिहंत चैत्यों को अर्थात्— अन्य दर्शनियों ने जिन-प्रतिमाओं को ग्रहण करके अपने देवों के

नाम से वन्दन-पूजन शुरू किया होवे; ऐसी जिन-प्रतिमाओं को वन्दना-नमस्कार करना कल्पे नहीं। यदि ऐसी जिन-प्रतिमाओं को वन्दना-नमस्कार करें तो अन्यदर्शनी लोग अपने मन में समझें कि यह ऐसे धर्मी बड़े आदमी भी हमारे देव को वन्दन-पूजन करते हैं; इसलिए हमारे देव बड़े हैं। और हम भी सच्चे धर्म-पालन करने वाले हैं। इत्यादि अन्य-दर्शनियों को मिथ्यात्व में दृढ होने का कारण मिले; उससे सम्यक्त्व दूषित होवे। इसलिये अन्य-मतावलंबियों की ग्रहण करी हुई जिन-प्रतिमा को वन्दन-पूजन करना सम्यक्त्वधारी को योग्य नहीं है; परन्तु अपने पक्ष के जिन-मन्दिर में जिन-प्रतिमाओं को विधि सहित वन्दन-पूजन करना सम्यक्त्व-धारी श्रावकों का खास कर्तव्य है। टीकाकार श्री अभयदेवसूरिजी महाराज ने भी "अन्ययूथिकपरिगृहितानि अरिहंतचैत्यानि अर्हत्प्रतिमालक्षणानि" यहाँ पर अरिहन्त-चैत्य का अर्हत्-प्रतिमा ही अर्थ किया है। इसी तरह से आनन्द श्रावक की तरह सर्व सम्यक्त्वधारी श्रावक-श्राविकाएँ अरिहन्त भगवन्त की प्रतिमाओं को वन्दन-पूजन करें, यह खास मूल आगमों की बात है।

'उववाई' सूत्र में परिव्राजक संन्यासी वेषको धारण करने वाले अंबड ने श्री वीर प्रभु के पास में 'श्रावकधर्म' अंगीकार किये बाद अरिहंत भगवन्त की प्रतिमा को वंदन-पूजन करने का अभिग्रह (नियम) धारण किया था। उसका लिखी हुई प्रति के पृष्ठ न वें का पाठ देखो:—

"अंबडस्स परिवायगस्स नो कप्पइ अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थिय देवयाणि वा अण्णउत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं वंदित्तए वा नमंसित्तए वा. जाव पज्जुवासित्तए वा, णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा"

इस पाठ में भी आनन्द श्रावक की तरह अम्बड़श्रावक ने भी अन्य दर्शनी को, अन्य दर्शनियों के हरि-हरादि देवों को तथा अन्य-दर्शनियों ने ग्रहण की अरिहंत प्रतिमा को वन्दन-पूजन करने का निषेध किया है। परन्तु अरिहंत भगवंत (देवाधिदेव-वीतराग प्रभु) को और अरिहंत भगवंत की प्रतिमा को वंदन-पूजन करने का मन्जूर (अभिग्रह नियम) किया है। इस बात का विशेष भावार्थ ऊपर में आनन्द श्रावक के अधिकार में बतलाया है। इसी तरह से अरिहन्त भगवान् की प्रतिमाको वन्दन-पूजन करने का सम्यक्त्वधारी श्रावकों का व श्राविकाओं का खास कर्तव्य समझना चाहिए।

श्रीजीवाभिगम सूत्रके पृष्ठ ३५६ और ३५७ वें में नन्दीश्वर द्वीपके अधिकारमें द्वीपकी ४-४ अन्जनगिरियों के ऊपर मध्यभूमि भाग में "तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेशभाए पत्तेयं पत्तेयं सिद्धायतणा एक्कमेक्कं जोयणसतं आयामेणं, पण्णासंजोयणाइं विक्खंभेणं, बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अणेगखंभसत संनिविट्ठा वण्णओ" इत्यादि; तथा "अट्ठसयं जिणपडिमाणं सव्वो सो चेव गमो जहेव वेमाणिय सिद्धायतणस्स" इस पाठ में ४ दिशियों के प्रत्येक अंजनगिरियों के ऊपर सौ सौ योजन लम्बे, पचास २ योजन चौड़े, और ७२-७२ योजन ऊंचे अनेक स्तंभों से शोभित जैसे वैमानिक देवलोकमें शाश्वत सिद्धायतनों का विस्तार से वर्णन राजप्रश्नीय सूत्रादि आगमों में है, वैसे ही यहां पर भी सभा मण्डप, ध्वज, तोरणादि विस्तारयुक्त वर्णन वाले मूल गभारे (देवच्छन्दे) में १०८-१०८ जिनप्रतिमाओं के सहित एक एक सिद्धायतन (शाश्वत चैत्य) कहा है। और एक एक अंजनगिरि के ४-४ दिशियों में लाख लाख योजन की नन्दापुष्करणी नामक ४-४ बावडीयें हैं, उन्हीं के मध्यभाग में एक एक दधिमुख (दहि के जैसे श्वेत) पर्वत है। इस तरह से ४ अंजनगिरियों के ४-४ दिशियों में १६ दधिमुख सर्व पर्वतों के ऊपर "पत्तेयं पत्तेयं सिद्धायतणं" अर्थात्-सब पर्वतों के ऊपर एक-एक

[illegible]

महिमाओ करेमाणा पालेमाणा महंमहेणं विहरंति।"

इस पाठ में भुवनपति—व्यंतर-ज्योतिषी और वैमानिक इंद्रादि देव अपने अपने परिवार सहित 'चौमासीपर्व में, पर्युषणापर्व' में तथा अन्य भी बहुत 'जिनराज के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान की उत्पत्ति व निर्वाणादि कल्याणकों' में देवों के कार्यों के लिये उल्लसित चित्त से भाव पूर्वक नंदीश्वर द्वीप के शाश्वत चैत्यों [सिद्धायतनों] में 'अट्ठाही महोत्सव' अर्थात्—वहाँ जिन-प्रतिमाओं की स्नान-विलेपनादि से द्रव्य-पूजा करते हुए और गीत-गान वाजित्रादि सहित दिव्य नाटकादि करते हुए जिनराज के जन्मादि कल्याणकों की भक्तिनिमित्त महा-महोत्सव करते हैं।

'स्थानांग सूत्र' के चौथे स्थानक के दूसरे उद्देश (छपे हुए सूत्रवृत्ति) के पृष्ठ २२६ से २३१ तक नंदीश्वर द्वीप के अधिकार में

द्वीप की चारों दिशाओं के चार अंजनगिरियों के ऊपर 'बहुमज्झ-देसभागे चत्तारि सिद्धायतणा पन्नत्ता।' इत्यादि पाठ में अंजनगिरियों के ऊपर और दधिमुख सर्व पर्वतों के ऊपर एक एक सिद्धायतन कहा है। और २३० वें पृष्ठ में 'जिणपडिमाओ सव्वरयणामईओ संपलियंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहाओ चिट्ठंति, तं जहा—रिसभा, वद्धमाणा, चंदाणणा, वारिसेणा।' इस पाठ में ऋषभानन, चन्द्रानन वारिषेण और वर्द्धमान नामा शाश्वती जिन-प्रतिमाएँ कही हैं। इसी तरह से 'प्रवचनसारोद्धारादि' बहुत शास्त्रों में नन्दीश्वर द्वीप में चैत्यों में जिन-प्रतिमाएँ कही हैं। और वहाँ पर इन्द्रादि देव-देवी अट्ठाई महोत्सव करने को जाते हैं, तब जिन-प्रतिमा को वन्दन पूजन करते हैं, यह खास मूल आगमों में कहा है।

ऐसे ही 'श्रीभगवती सूत्र' के तीसरे शतक के दूसरे उद्देश (छपे हुए पृष्ठ १६७) में भी 'अरिहंत भगवंत के जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान की उत्पत्ति और निर्वाण कल्याणकों की महा महिमा' करने के लिये असुरकुमार देव 'नन्दीश्वर द्वीप' में जाते हैं, और आगे को जाते रहेंगे। ऐसा असुरकुमार देवों के गमन की शक्ति का विषय प्रतिपादन करते हुए 'श्रीवीरप्रभु ने गौतमस्वामी को स्पष्ट कहा है। उसका पाठ देखिये:—"गोयमा जे इमे अरिहंता भगवंता एएसिणं जम्मणमहेसु वा निक्खमणमहेसु वा णाणुप्पण्णमहिमासु वा परिनिव्वाणमहिमासु वा एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदीसर दीवं गया य गमिस्संति य।'

इसी तरह से 'जम्बूद्वीपपन्नत्ति सूत्र' के (सूत्र वृत्ति सहित छपे हुए पृष्ठ ४२६ में) "बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिआ देवा भगवओ तित्थयरस्स जम्मणमहिमं करेंति, करेइत्ता जेणेव णंदीसरदीवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता अट्ठाहियाओ महामहिमाओ करेंति।" इस पाठ में बहुत भुवनपति-व्यंतर-ज्योतिषी और

का नियम-रूप विधिवाद ठहराना योग्य नहीं है। पंडितजी का ऐसा कहना उनकी जैनागमों के अतीव गंभीरार्थ से अनभिज्ञता ही प्रकट करना है। क्योंकि देखो—'द्रौपदी' श्राविका की की हुई जिन प्रतिमा की द्रव्य-भाव-पूजा सम्बन्धी 'सूर्याभदेव' की भोलावण सूत्र कारने दी है, यह स्पष्टतया विधिवाद रूप है। जिन-प्रतिमा की पूजा आत्महित की वांच्छा से करने वाले हर एक भव्य-जीवों को करने योग्य है। देखो:-लिखित 'राजप्रश्नीय' सूत्र के पृष्ठ ५२ में 'सिद्धाय तणंसि अट्ठसयं जिणपडिमाणं'' इत्यादि तथा "बहुणं विमाणियाणं देवाणं देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ णमंसणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ'' इत्यादि पाठ में सिद्धायतन में १०८ जिन प्रतिमाएँ हैं; सो बहुत देव-देवियों के अर्चना करने योग्य हैं, वंदना-नमस्कार करने योग्य हैं, पूजा करने योग्य हैं, सत्कार करने योग्य हैं, सन्मान करने योग्य हैं। यह जिन-प्रतिमा की पूजा भक्ति रूप कार्य इसभव में और परभव में हितकारी, सुखकारी, कल्याण करने वाला व भव-भव में सुख देने वाला यावत् मोक्ष देने वाला है। यह आगमों के मूल पाठ विधिवाद रूप ही हैं। और 'भगवतीसूत्र' में जंघाचारण, विद्याचारण मुनियों की लब्धि के शक्ति का विषय प्रतिपादन किया है वह भी असुक मुनि 'नंदीश्वर' में व 'मेरुपर्वत' पर चैत्य के वंदन को गया और पीछे आकर यहां के चैत्यों की भी वंदना की ऐसा व्यक्तिगत पाठ नहीं है। किंतु १५ कर्मभूमियों के सर्व मुनियों संबंधी है। यह मर्यादा अनादि काल से चली आती है और आगे अनंत काल तक चलती रहेगी। इसलिये यह पाठ भी विधिवाद का ही समझना चाहिये, इसको चरितानुवाद कोई भी नहीं कह सकता।

'भगवती सूत्र के २ शतक के ८ वें उद्देशे पृष्ठ १५१ में "चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचा नामं रायहाणी पन्नत्ता'' इत्यादि तथा 'जहा विजयस्स संकप्पो अभिसेयविभूसणा

यमाओ अदणिय सिद्धायतणमेणिं" इत्यादि, इस पाठ में चमरेंद्र
विजयदेव की तरह सिद्धायतन में जिन-प्रतिमा की पूजा
है। और दशवें शतक के छट्ठे उद्देशे के पृष्ठ ५०६ में सौधर्मेंद्र
न हुआ, तब उनके अभिषेक व जिन-प्रतिमा का पूजन करने
रह इन्द्र के फलों का और परिवारादि इन्द्र की ऋद्धि वगैरह
अधिकार चला है, उसमें भी "सोहम्मवडिंसए महाविमाणे
तेरसजोअणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं एवं जह सूरियाभे
व माणं तहेव उववाओ, सक्कस्स य अभिसेओ तहेव जह सूरि-
भस्स ॥ अलंकारअच्चणिया तहेव, जाव आयरक्ख देवत्ति" इस
में सूर्याभदेव की तरह 'सौधर्मेंद्र उत्पन्न हुआ और अपनी पर्या-
पूरी हुए बाद पहिले और पीछे मेरे यहाँ पर क्या कार्य करने
य है? इत्यादि विचारने लगा, तब उनके सामानिक पर्षदा के
ों ने इन्द्र के पास में आकर कहा कि यहाँ पर 'सिद्धायतन में
न-प्रतिमाएँ हैं वे बहुत देव, देवियों के वंदनीय-पूजनीय हैं।
ों 'जिन-प्रतिमाओं' की पूजा करनी इसभव में और परभव में
कारी यावत् मोक्षफल देने वाली है। ऐसे देवों के वचन सुनकर
वहाँ से उठा, अभिषेक सभा में गया; विधि सहित विस्तार पूर्वक
षेक हुए बाद इन्द्रपने की अपनी ऋद्धि के साथ सिद्धायतन
आकर भाव सहित विधि पूर्वक जिन-प्रतिमा की पूजा की, पुष्प
ए, पुष्पों के हार चढ़ाए, मुकुटादि आभूषण चढ़ाए, धूप किया,
मंगल रचे, नमुत्थुणं से स्तवना की। इसी तरह से सर्व
ादि देव देवी जिन-प्रतिमा की पूजा करते हैं। यह खास 'श्री
ती सूत्र' का मूल पाठ विधिवाद रूप है। और इसी दशवें
क के पांचवें उद्देशे के पृष्ठ ५०३ में 'चमरेंद्र अपनी राजधानी की
र्मसभा में 'चैत्यस्तंभ' में बहुत 'जिनेश्वर' भगवानों की 'डाढाएं'
वे भी सर्व देव-देवियों को 'जिन-प्रतिमा' की तरह वंदनीय,
नीय, सेवनीय हैं। अतः उनकी आशातना न हो इसलिये इस प्रकार

[illegible] भी [illegible] के साथ [illegible]
[illegible]
[illegible] 'भगवती सूत्र' के मूल पाठ की [illegible] समझना चाहिये।

आनन्द श्रावक की तरह ही और श्रावकों के सम्यक्त्व व्रत के उच्चारण करने सम्बन्धी पाठ होने से जैसे आनन्द श्रावक के अधिकार में जिन-प्रतिमा को वन्दन-पूजन करने वाला पाठ है वैसे ही पाठ सभी जगह पर सम्यक्त्वधारी सब श्रावक-श्राविकाओं को जिन-प्रतिमा की पूजा करने के लिए निर्विवाद में ही समझ लेना चाहिए। और भगवती. ज्ञाताजी वगैरह बहुत आगमों में "कयबलि कम्मा" ऐसा पाठ जगह जगह पर बहुत जगह आता है उसका अर्थ देवपूजा होता है। क्योंकि देखो खास श्रीभगवतीसूत्र के ११ शतक के ६ उद्देश पृष्ठ ५१६ में "महुणा य सप्पिणा य तंदुलेहिय अग्गिं हुणइ, अग्गिं हुणित्ता चरुं साहेइ, चरुं साहेत्ता बलिं वइस्सदेवं करेइ, बलिं वइस्सदेवं करेत्ता अतिहिपूयं करेइ, अतिहिपूयं करेत्ता तओ पच्छा अप्पणा आहारमाहारेति" ऐसा पाठ आया है। इस पाठ में शिवराजर्षि तापस ने छट्ठ तप (दो उपवास) के पारणे के लिये जंगल में से कंद, मूल, पत्र, पुष्प वगैरह लाये बाद स्नान करके मधु घृत, चावल से अग्नि होम किया, अग्नि होम करके "चरुं साहेइ" भोजन पकाया, भोजन पकाकर वैश्वानर अग्निदेव के लिये बलि यानी पूजा सामग्री तैयार की, पूजा सामग्री तैयार करके वैश्वानर देव को बलि दी अर्थात्-पूजा की, फिर अतिथी को भोजन दिया, उसके बाद छट्ठ तपका पारणा किया, अर्थात् भोजन किया। ऐसा ही बलि पूजा का पाठ "निरयावली सूत्र" में सूत्रवृति सहित छपे हुए पृष्ठ २७ में सोमल तापस के अधिकार में भी आता है। और लिखे हुए "राज-

श्नीय सूत्र" के पृष्ठ ६३ में सूर्याभदेव के लिये जिन-प्रतिमा आदि
ी पूजा किये वाद ऐसा पाठ आता है "जेणेव वलि पीठतेणेव
वागच्छइ, उवागच्छित्ता वलि विसज्जणं करेइ" अर्थात् पूजा किये
ाद शेष पूजा की सामग्री बाकी रही थी उसको लेकर के सूर्याभदेव
हां वलि पीठ था वहां आया, आकर वलि को उस पर एक स्थान
में विसर्जन किया (रखा), इस मूल सूत्र पाठ में भी वलि शब्द
ूजा सामग्री क. वाचक है। और राजप्रश्नीय सूत्र के पाठानुसार सूर्या-
भदेव की तरह सौधर्मेंद्र आदि सर्व देव-देवियों के जिनप्रतिमा की पूजा
का अधिकार भगवती आदि आगमों में आता है। इस प्रमाण के
अनुसार भी राजप्रश्नीय-भगवती आदि मूल आगमों में वलि शब्द
को पूजा सामग्री के अर्थ में ग्रहण किया है। इसलिये अति प्राचीन
मूल आगमों के पाठों से भी वलि शब्द पूजा का अर्थ सिद्ध
करता है। और "वलिः-पूजासामग्र्याम, वलिक्रिया स्त्री० इष्टदेवता
पूजाविधौ," इत्यादि पृष्ठ २५०-२५१ में "शब्दार्थचिंतामणि"
वगैरह वहुत कोशों के अनुसार भी वलि शब्द का अर्थ देवपूजा
होता है। उससे सम्यक्त्वीजन जिन-प्रतिमा की पूजा करते हैं, और
मिथ्यात्वीजन अपने अपने देव की पूजा करते हैं। इसलिये मूल
आगमों के प्रमाणों से सर्व सम्क्त्वीजन ऊपर के पाठानुसार हमेशा
जिनपूजा करने वाले ठहरते हैं। ऐसे मूल आगमों के विधिवाद के
पाठों के भावार्थ को गुरुगम्यता से या अनुभव से समझे विना ही
चरितानुवाद कहना स्वयं की अनभिज्ञता मात्र प्रकट करना है।

"श्रीमहानिशीथ सूत्र" के तीसरे अध्ययन में हस्तलिखित प्रति
के पृष्ठ २६ में जिनप्रतिमा को वन्दन-पूजन करने वावत विधिवाद
के ऐसे पाठ हैं "अज्जप्पभिइए जावज्जीवं तिकालियं अणुदिणं
अणुत्ताचलेगग्गचित्तेणं चेइए वंदियव्वे" इत्यादि, तथा "तत्थ
पुव्वण्हे ताव उदगपाणं न कायव्वं जाव चेइए साहु य ण वंदिए, तहा
मज्झण्हे ताव असणकिरियं म कायव्वं जाव चेइयं ण वंदिए, तहा

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी तथा वैमानिक यह चारों प्रकार के इन्द्रादि असंख्य देव देवी 'नंदीश्वरद्वीप' में अट्ठाई महोत्सव करने को हरेक समय जाते हैं। वहाँ पर शाश्वत चैत्यों में जिन-प्रतिमाओं की पूजा करते हैं। यह श्रीजिन-पूजा मोक्ष फल देने वाली आगमों में कही है। इस अनादि-सिद्ध नियम को चरितानुवाद कभी नहीं कह सकते, यह तो प्रत्यक्ष ही विधिवाद है। इसलिये जिन-प्रतिमा की पूजा को चरितानुवाद के नाम से निषेध करना अज्ञानता है।

और भी देखिये एवं विचार करिये:—जब से संक्षेप रूप में आगम पुस्तकारूढ किये गये तब से सम्यक्त्व सहित बारह व्रत ग्रहण करने की विधि का स्वरूप तथा सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, जिन-पूजा, दीक्षा महोत्सव, पंच महाव्रत उच्चारण, आगमों को गुरुमुख से पढ़ना, देवगुरु को वन्दन करने को जाना, विधि से वन्दना करना, धर्मोपदेश सुनना और अपनी शङ्काओं का समाधान करना वगैरह वगैरह सैकड़ों बातों की विधियों का स्वरूप आगमों में बतलाये हुए दृष्टान्तों के अन्तर्गत के कथन से समझने में आता है। जैसे—हरएक श्रावक, श्राविका के सम्यक्त्व सहित बारह व्रत अंगीकार करने की विधि का स्वरूप उपासकदशाङ्ग सूत्र में बतलाये हुए आनन्द श्रावक के अधिकार से समझा जाता है, तथा दीक्षा महोत्सव की विधि का स्वरूप श्रीभगवती व ज्ञाता आदि सूत्रों में बतलाये हुए जमालि, मेघकुमार आदि के दृष्टान्तों से समझने में आता है और इन्द्रादि देव, देवियों के व राजा महाराजाओं के तीर्थङ्कर भगवानों को वन्दन करने को जाने की विधि का स्वरूप श्रीराजप्रश्नीय उववाई वगैरह सूत्रों के सूर्याभदेव, कौणिक महाराजादि के अधिकार से समझा जाता है, उसी प्रकार जिन-प्रतिमा को वन्दन-पूजन करने की विधि का स्वरूप भी राजप्रश्नीय जीवाभिगम, भगवती, ज्ञाता, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वगैरह आगमों में आये हुए सूर्याभदेव, विजयदेव, जंघाचारण-विद्याचारण मुनि, द्रौपदी

श्राविका, आनन्द श्रावक और गौतमादि वगैरह के चरित्रों से समझना चाहिए। और इन्हीं सर्व बातों का विचार श्री सुधर्मा पूर्वधरादि गीतार्थ आचार्यों की रची हुई आगमों की पञ्चांगी के अनुसार समझने में आता है। तथा यह तो प्रत्यक्ष ही है कि आनन्द, कामदेवादि श्रावकों के और गौतम, मेघकुमार, धन्ना आदि मुनियों के जैनागमों में ऐसे सैकड़ों चरितानुवाद के दृष्टान्त देखने में आते हैं कि जहाँ प्रसङ्ग तो चरितानुवाद का चलता हो परन्तु उसमें उपदेश और कर्तव्य खास विधिवाद के होते हैं। इसलिये चरितानुवाद के और विधिवाद के परस्पर सम्बन्ध के भेद भाव को समझे बिना सर्व बातों की विधि मूल-आगमों में अलग अलग लिखने का कहना, यही बड़ी अज्ञानता है। क्योंकि देखो—सर्व बातों की विधि अलग अलग लिखें और फिर वही सब बातें चरितानुवाद में भी उनके कर्तव्य-रूप में अलग २ बतलावें तो पुनरुक्ति जैसा होवे और विस्तार भी बहुत बढ़ जावे, उससे कई विधि अलग भी लिखी हैं और कई चरितानुवाद के अन्तर्गत कथन से भी समझने में आती हैं। इसलिये सर्व बातों की विधि अलग अलग लिखने का कोई भी प्रयोजन ही नहीं है। इस प्रकार जैनागमों के अतीव गम्भीर आशय को गुरुगम्यता से समझे बिना चरितानुवाद के नाम से जिन-प्रतिमा को वन्दन-पूजन करने की अनादि-सिद्ध विधिवाद का निषेध करने की कोशिश करना उत्सूत्र प्ररूपणा से अपना संसार बढ़ाने का दुःसाहस मात्र करना है।

आगमों की आदि में चैत्य शब्द का आने का हेतु क्या है?

भगवतीसूत्र वगैरह आगमों की आदि में "गुणसिलए चेइए, छत्तपलासए चेइए, पुण्णभद्दे चेइए" इत्यादि सैकड़ों जगहों पर प्रायः प्रत्येक आगम की, अध्ययन की, शतक की व उद्देश की आदि में ऐसे शब्द आते हैं। उनका अर्थ गुणशिलक, छत्रपलाश, पूर्णभद्रादि चैत्य व्यंतरायन, अर्थात् गुणशिलकादि व्यंतरयक्षों की

मूर्तियों वाले मन्दिर ऐसा अर्थ होता है। इसका रहस्य समझे बिना गुणशिलादि चैत्य व्यंतरायतनों का अर्थ मृतकों के अग्नि संस्कार की जगह स्तूपादि यादगिरी करके, गुणशिलकादि व्यंतरयक्षों की मूर्तियों वाले मन्दिरों का अभाव बतलाते हैं। और चैत्य-शब्द का अर्थ केवल बनखण्ड करते हैं। क्योंकि देखो "उववाई" सूत्र की आदि में चम्पानगरी के वर्णन में "तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, पुण्णभद्दे णामं चेइए होत्था. चिराईए, पुव्वपुरिसपन्नत्ते, पुराणे, सद्दिए, वित्तिए, कित्तिए, णाए, सच्छत्ते, सज्झए, सघंटे, सपडागे, पडागाइपडागमंडिए, सलोमहत्थे, कयवेयद्दिए, लाउल्लोइयमहिए, गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितले उवचियचंदणकलसे, चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभाए, आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावे, पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए, कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे, सुगंधवरगंधगंधिए, गंधवट्टिभूए।" इत्यादि। 'से णं पुण्णभद्दे चेइए एक्केणं महया वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते, से णं वणसंडे किण्हे किण्होभासे" इत्यादि:--इस पाठ में चंपानगरी के ईशान कोण में पूर्णभद्र चैत्य अर्थात्-पूर्णभद्रनामा व्यंतरयक्ष की मूर्तिवाला मंदिर है। जो पुराना (प्राचीन) पूर्व पुरुषों का कहा हुआ और नगरनिवासी लोगों। कर्यंदित-पूजित, छत्र, ध्वज, तोरण, घंट, चन्दन कलशादि सहित पंचवर्ण के पुष्पों के ढेर वाला, दशांगधूप से धूपित सुगन्ध वाला पूर्णभद्र नामक यक्ष का अनेक स्तम्भों से शोभित बड़ा ही विशाल मन्दिर था। उस पूर्णभद्र चैत्य (मन्दिर) के चारों दिशाओं में चारों तरफ वींटा हुआ अनेक वृक्षों की श्यामघटा से शोभित मनोहर एक वनखण्ड कहा है। इसके आगे के पाठ में इसी वनखण्ड में चौफेर विस्तार वाला मनोहर अशोक वृक्ष के नीचे बहुत विशाल शिलापट्ट का वर्णन किया है। वहाँ पर श्रमण भगवान श्रीमहावीरस्वामी अपने शिष्य गौतमादि मुनियों के सर्व परिवार के समुदाय सहित पधारे थे। तब उस जगह ६४ इन्द्रादि करोड़ों देव, देवियों का आगमन हुआ था। और सेठ

सेनापति, सार्थवाह वगैरह लाखों जन-समुदाय सहित, हजारों हाथी, घोड़े, रथ व लाखों पदातिक सैन्य सहित अंतःपुर के परिवार के साथ तथा अनेक प्रकार के बाजिंत्रों के साथ अपनी सब राजऋद्धि को साथ में लेकर कौणिक महाराजा पूर्णभद्र चैत्य में श्रीमहावीर भगवान को वन्दना करने को आया था। वहाँ इन्द्रादि देव, देवियों की और राजादि पुरुष स्त्रियों की बड़ी पर्षदा इकट्ठी होने पर भगवान् ने बड़ी विस्तार पूर्वक धर्मदेशना दी थी। उस देशना को सुनकर बहुत लोगों ने अपनी २ यथाशक्ति पंचमहाव्रत, या सम्यक्त्व सहित बारह व्रत अङ्गीकार किये थे। कई जीवों ने सम्यक्त्व पाया, कई भद्रप्रकृति वाले हुए इत्यादि विस्तार पूर्वक सूत्रकार ने "उववाई सूत्र" में वर्णन किया है।

जैन-आगमों की रचना का प्रायः यह नियम है कि जहाँ पर तीर्थंकर भगवान् अपने गणधरादि हजारों साधु, साध्वियों के परि
वार सहित जिस नगरी के पास के वन में पधारें, वहाँ के नगरी का
राजा का, राणी का, नगर की ऋद्धि-समृद्धि का, वनखण्ड का, औ
उस नगरी के वनखण्ड के मुख्य अधिष्ठायक व्यंतर यक्ष के मन्दि
का तथा वनखण्ड के अशोक वृक्ष की विशालता का सूत्रकार मह
राज पहिले वर्णन करते हैं। उसके बाद समवसरण की रचना हु
बाद राजादि मनुष्यों की, देवों की पर्षदा इकट्ठी होने पर भगव
धर्मदेशना देते हैं, और प्रसङ्गानुसार गौतमादि मुनियों के प्रश
के भगवान् की तरफ से उत्तर होते हैं, उस रूप में आगमों
की रचना होती है। इसलिये प्रायः करके प्रत्येक आगम की, अध
यन की, शतक की व उद्देश की आदि में नगरी का और चैत्य
अर्थात्-नगरी के पास वनखंड के मुख्य अधिष्ठायक के मन्दिर
वर्णन आता है। उसका भावार्थ समझे विना और आगे पीछे
संबंध वाले पाठ को छोड़ कर केवल "चैत्य" शब्द वाले अ
पाठ लिख कर, उसका भी 'अग्निसंस्कार की जगह स्तूप की यादगि

विपरीत अर्थ करके भोले जीवों को उन्मार्ग में डालने का साहस
का केवल संसार की वृद्धि करना है। क्योंकि प्रत्येक आगम की,
श की और अध्ययन की आदि में सैकड़ों जगहों पर जहाँ जहां
य' शब्द आया है वहां पर मुर्दा भूमि नहीं किंतु 'उववाई' सूत्र के
र में बतलाये हुए मूल पाठ के अनुसार विशाल वनखंड के मध्य-
ग में अनेक स्थलों से शोभित अतिशय रमणीय यक्ष का देवमंदिर ही
मानना चाहिये।

और भी विचार करिये—तीन जगत के परमेश्वर देवा-
देव श्रीवीरप्रभु परमात्मा गणधरादि १४ हजार साधु, ३६ हजार
ध्वी, लाखों विद्याधर, तथा ६४ इन्द्रादि असंख्य देव, देवी और
ना महाराजाओं के समुदाय के परिवार समक्ष धर्मदेशना देते
। वहां पर प्रतिबोध पाकर बहुत राजा महाराजा अपना राज्य-ऋद्धि
छोड़ के दीक्षा लेते हैं, बड़ा महोत्सव होता है, यह सर्व कार्य
ोर उत्तमोत्तम महान्पुण्यशाली पुरुषों के बैठने योग्य मुर्दाभूमि
भी नहीं हो सकती, किन्तु विशाल वनखंड ही हो सकता है, यह
त्यक्ष प्रमाण है। इसलिये आगमों में अध्ययन-उद्देश की आदि
आये हुए 'चैत्य' शब्द का अर्थ श्मशानभूमि करना बिलकुल
विवेकशून्यता का परिचायक है।

११ अंगको; ३२ सूत्रोंको मानना योग्य है? या सर्व आगमों को और आगमों की सर्व व्याख्याओं को मान्य करना योग्य है?

पं० बेचरदासजी ११ अंगों को और स्थानकवासी तथा तेरहपंथी, ३२ सूत्रों को मानते हैं, और अन्य आगमों को तथा निर्युक्ति-भाष्यादि आगमों की व्याख्याओं को पूर्वाचार्यों के रचे हुए कह कर मानने में शंका लाते हैं। यह भी उनकी बड़ी भूल है।

स्थापन करके भगवान् की वाणी की आशातना के दोष के
। बनते हैं। भगवान् की वाणी का असंख्यात श्लोक प्रमाण
मों में गणधर देवों ने संग्रह किया था; उसका समुद्र में से
के समान संक्षेप में पूर्वधरादि उपकारी स्थविर भगवन्तों ने
ह किया है, परन्तु अपनी कल्पना से नवीन रचना कुछ भी नहीं
और अनन्त अर्थ युक्त आगमों के गूढ़ आशय को निर्युक्ति-भा-
दि व्याख्याओं में पूर्वधरादि पूर्वाचार्यों ने खुलासा लिखा है। उस
। के भावार्थ को समझे बिना अपनी अज्ञता से भगवान् की
णी के ऊपर भी शंकाशील होना और उपकारी पूर्वधरादि आचार्यों
ऊपर प्रत्यक्ष झूठा आरोप रखना यह तो गाढ मिथ्यात्व के उदय
विपरीत बुद्धि का ही लक्षण है। इसलिये अन्य आगमों को और
गमों की व्याख्याओं को मानने में किसी भी आत्मार्थी भव्यजीवों
ो शंकाशील होना योग्य नहीं है।

—([ॐ])—

क्योंकि देखो—शासननायक श्रीवीरप्रभु के सामने गणधर महाराजाओं ने १२ अंग; १४ पूर्व वगैरह असंख्यात श्लोक प्रमाण आगमों की रचना की थी। उसमें जिस जिस प्रसंग से जो जो अधिकार, जिस जिस आगम में; जहां जहां पर आता था, उस उस अधिकार को उस उस जगह पर विस्तार पूर्वक कथन किया था, परन्तु बाद में पड़ते काल में अल्पबुद्धि वाले भव्यजीवों के उपकार के लिये आगमों को संक्षेप में करके लिखने के समय श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण आदि महान् उपकारी, पूर्वधरादि, गीतार्थ पूर्वाचार्यों ने जिस प्रसंग से जो वात एक आगम में लिखी हो उसके बाद में वैसी ही वात यदि दूसरे प्रसङ्गवश दूसरे आगम में लिखने का मौका आवे तो विस्तार के भय से वहां पर न लिखते हुए पहिले लिखी हुई वात की भोलावन दे दी और आगे दूसरी वात लिख दी। थोड़े से में वहुत वातों का वोध होवे वैसा कर दिया। इसलिये भगवतीसूत्र के पहिले शतक के प्रथम उद्देश में छपे हुए सूत्र वृत्ति के पृष्ठ १६ वे में "जहा ऊसासपए, जहा पन्नवणाए पढमए आहारुद्देसए तहा भणियव्वं" तथा दूसरे शतक के आठवें उद्देश में पृष्ठ १४६ में भी "एवं जीवाभिगमवत्तव्वया नेयव्वा" इसी तरह से "जहा उववाईए, जहा पन्नवणाए, जहा जीवाभिगमए, जहा रायपसेणीए, जहा जंबूदीवपन्नत्तिए, जहा नंदीए" इत्यादि, ऐसे सैकड़ों वार जगह जगह पर उववाई, पन्नवणा, जीवाभिगम, राजप्रश्नीय, नंदी, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति वगैरह आगमों की भोलावण देकर भगवती सूत्र का संक्षेप किया है। इसी तरह से सर्व आगमों में एक एक आगम की दूसरे दूसरे आगम के साथ भोलावण दी है। इसलिये जैसे भगवती सूत्र मानने में आता है, वैसे ही जीवाभिगम, राजप्रश्नीय, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, महानिशीथ आदि सर्व आगम मान्य करने योग्य हैं। जिस पर भी जो ११ अंगको व ३२ सूत्रों को भगवान की वाणी समझकर मानते हैं और शेष [वाकी] के अन्य आगमों को पूर्वाचार्यों के रचे हुए कह कर मानने में शंकाशील होते हैं, वे अपनी अज्ञता से अन्य आगमों

को उत्थापन करके भगवान् की वाणी की आशातना के दोष के भागी बनते हैं। भगवान् की वाणी का असंख्यात श्लोक प्रमाण आगमों में गणधर देवों ने संग्रह किया था; उसका समुद्र में से बिंदु के समान संक्षेप में पूर्वधरादि उपकारी स्थविर भगवन्तों ने संग्रह किया है, परन्तु अपनी कल्पना से नवीन रचना कुछ भी नहीं की और अनन्त अर्थ युक्त आगमों के गूढ आशय को निर्युक्ति-भाष्यादि व्याख्याओं में पूर्वधरादि पूर्वाचार्यों ने खुलासा लिखा है। उस बात के भावार्थ को समझे बिना अपनी अज्ञता से भगवान् की वाणी के उपर भी शंकाशील होना और उपकारी पूर्वधरादि आचार्यों के ऊपर प्रत्यक्ष झूठा आरोप रखना यह तो गाढ मिथ्यात्व के उदय से विपरीत बुद्धि का ही लक्षण है। इसलिये अन्य आगमों को और आगमों की व्याख्याओं को मानने में किसी भी आत्मार्थी भव्यजीवों को शंकाशील होना योग्य नहीं है।

—([ॐ])—

[illegible] भगवती की शंकाओं का समाधान [illegible] जानते हैं कि जैन शासन में दुःखी, रोगी और अनाथ को [illegible] करके दान देने में और [illegible] आदमियों [illegible] में किसी प्रकार का हमको दोष नहीं लग सकता है किन्तु दुःखी को दान देने में और भय से व्याकुल जीवों को बचाने में हमारे हृदय में परोपकार करने और सब जीवों को शान्ति पहुंचाने के शुद्ध परिणाम होते हैं। इसलिये हमको पुण्य की प्राप्ति होती है।

इस संसार में सब जीव अधिक जीना चाहते हैं। इसलिये कोई भी दुःखी देखने में आवे तो यथाशक्ति उसका दुःख दूर करके उसको सुखी बनाना उत्तम सज्जनों का मुख्य धर्म है। उत्तम धर्मी-जन दया से रहित नहीं होते हैं। देखिये जब तीर्थंकर भगवान दीक्षा लेने को तैयार होते हैं तब पहिले एक वर्ष तक सब प्राणियों को स्वर्ण आदि मनोवांछित दान देकर द्रव्य से उनको सुखी करके शान्ति उत्पन्न करते हैं फिर दीक्षा लेकर अपने कर्मों का क्षय करके धर्मोप-देश देकर भाव से ज्ञानदान देते हैं और मुक्ति का मार्ग बतलाकर प्राणियों को सुखी करते हैं। यह नियम अनादि काल से सब तीर्थ-करों का है यह बात जैन-शास्त्रों में प्रसिद्ध है। अब विचार करना चाहिये कि जब तीर्थंकर भगवान एक वर्ष तक दान देते हैं। तब उनके मन में सबको यथाशक्ति "मैं सुखी करूँ" ऐसे शुद्ध परि-णाम होते हैं, जिससे भगवान को महान शुभ लाभ मिलता है, परन्तु कुछ भी पाप नहीं होता। यदि इस प्रकार दान देने में पाप बंध होता तो उस पाप का फल भगवान को अवश्य भोगना पड़ता किन्तु श्री मल्लिनाथ आदि तीर्थंकर भगवान ने वर्षी दान देकर जिस दिन दीक्षा ली उसी दिन अपने कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया और जगत के जीवों का उपकार करके मुक्ति प्राप्त की। परन्तु ऐसा दान देने पर यदि पाप कर्म बंधता हो तो तीर्थङ्करों को उसे भोगना पड़ता परन्तु मल्लिनाथ भगवान को तो उस

पाप को भोगने का अवसर ही नहीं मिला। इससे साबित होता है कि ऐसे दान देने में पाप-बंध नहीं होता, किन्तु दाता को दान देते समय शुभ परिणामानुसार अवश्य ही लाभ मिलता है। इसलिये दुःखी प्राणियों को यथायोग्य दान देना तथा उनको सुखी करना जीवन्दया या अनुकम्पा है। यह पाप बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि सम्यक्तव के पांच भेद में चौथा अनुकम्पा भी है।

यदि कोई कहेगा कि ऐसा दान देने में महावीर स्वामी के अशुभ कर्म बँधे जिससे उनको साढ़े बारह वर्ष तक दुःख भोगना पड़ा। यह कहना सर्वथा असत्य है, क्योंकि ऐसा दान देने से महावीर स्वामी के कुछ भी अशुभ-कर्म नहीं बंधे, किंतु यह अशुभ-कर्म तो महावीर स्वामी ने त्रिपृष्ठ वासुदेव आदि के अपने पूर्वभवों में निकाचित बाँधे थे। उन भवों में बाँधे हुए कर्म भगवान के इस भव में उदय हुये और भोगने पड़े। परन्तु वर्षीदान देने से अशुभ कर्म बँधे हों और भोगने पड़े हों यह बात नहीं है। ऐसा वर्षी दान तो सभी तीर्थंकर देते हैं, परन्तु किसी भी तीर्थंकर को यदि उनके पूर्णभवों के अशुभ कर्म भोगने बाकी न रहे हों तो कुछ भी कष्ट नहीं हुआ है और उन्होंने किसी प्रकार का उपसर्ग हुए बिना ही श्रीमल्लिनाथजी आदि की तरह किसी प्रकार का कष्ट न भोगकर सुख पूर्वक केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। किन्तु वर्षी दान देने पर किसी भी तीर्थंकर के अशुभ-कर्म बंधे हों ऐसा किसी भी जैन-शास्त्र में देखने और सुनने में नहीं आता। इसलिये वर्षी दान देने से महावीर स्वामी को अशुभ कर्म बंधे और भोगने पड़े, ऐसा झूठा दोष भगवान पर लगाना और शास्त्र-विरुद्ध उत्सूत्र प्ररूपणा करके भोले जीवों को भ्रम में डालकर अपने कर्म बांधना उचित नहीं है। फिर भी देखो जैन-शास्त्रों में कर्म बन्धन के हेतु, मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, योग और प्रमाद ये पांच कारण बतलाये हैं। अब विचार करो दुःखी जीवों को दान देकर उन का दुःख दूर करने में और

[illegible] भाव से [illegible] जीवों [illegible]
[illegible]
कोई भी कारण नहीं है। [illegible] अनुकम्पा दान और [illegible]
से जीवों को शान्ति पहुँचाने के लिये शुभ परिणाम होते हैं। [illegible]
बिलकुल पाप नहीं बंध सकता और [illegible] चोरी [illegible] परिग्रह
हिंसा, अठारह पाप स्थानों का सेवन, इन कामों से प्राणी पाप कर्म
बांधते हैं। परन्तु दुःखी जीवों को सुखी करने के लिये और मरते
हुये जीवों को बचाने में कुछ भी पाप कर्म बन्धन का कारण नहीं
है। इसलिये शास्त्रों का भावार्थ समझे बिना और अशुभ कर्म-बंधन
के कारणों को जाने बिना अनुकम्पा दान में और मरते हुये जीवों
को बचाने में पाप कर्म बंधना मानना और लोगों को बहकाना
सर्वथा अनुचित है।

फिर भी देखो इस संसार में जिस जिस समय में शुभ या
अशुभ जैसे २ कारणों से प्राणियों के जैसे जैसे परिणाम होंगे वैसे
वैसे ही उन के शुभ या अशुभ कर्मों के बन्धन होंगे। इस प्रकार
हर समय प्राणियों के कर्म-बन्धन होते रहते हैं, परन्तु कर्म-बंधन
बिना कोई भी समय किसी जीव के खाली नहीं जाता। जब कोई
सज्जन परोपकार बुद्धि से दुःखी और भय से व्याकुल जीवों पर
करुणाबुद्धि से उनको दुःख और भय से छुड़ावे, तब उसके मन
के शुद्ध परिणाम होते हैं। इसलिये जीव बचाने में और दुःखी जीवों
को दान देने में अशुभ कर्म किसी प्रकार भी नहीं बंधते हैं।

यदि हम निर्बल दुःखियों को अन्न आदि दान देवें तो उससे
वे बलवान होकर पीछे से पाप-कर्म करेंगे, और यदि कोई किसी
जीव को मारता हो तो उसको हम बचावें, तो वह बचा हुआ जीव
भी जब तक जीवेगा तब तक पाप कर्म करेगा और उसका पाप
हमको मिलेगा, इसलिये गरीब को अन्न आदि देना और मरते हुये

कोई कह सकता है कि यदि तीर्थंकर भगवान के वर्षी दान में दिये गये धन से जो पापकर्म लोगों द्वारा किया जाता है उसका पाप भगवान को नहीं लगता। इस संसार में मकान, धन आदि सब सामान या वस्तु या धन इकट्ठा करके अपने स्त्री-पुत्र आदि के लिये छोड़कर मर जाने वाले मनुष्यों को भी उनके बाद उनके मकान में और उनके द्रव्य से होने वाले पापकर्म का भागीदार नहीं होना चाहिये। ऐसा कहने वाले भी शास्त्र के रहस्य के नहीं जानने वाले हैं। क्योंकि देखो, जो कोई इस संसार में स्त्री-पुत्र आदि के लिये मकान, धन, राज आदि छोड़कर परलोक जाते हैं उनको अपने मकान, धन, राज आदि के उपर परिग्रह का मोह-ममत्व बना रहत है, जिससे उस मकान आदि से होने वाले पाप कर्म का भागीदा परलोकगामी उसका मालिक होता है, परन्तु जो दाता अनाथ आदि को अन्न इत्यादि का दान देता है, वह उस वस्तु का मोह ममत्व छोडकर, उस वस्तु पर से अपनी परिग्रह-बुद्धि का त्याग करके अपने स्वार्थ को तिलांजलि देकर परोपकार-वृत्ति में उस वस्तु को दे डालता है और फिर उस वस्तु से उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। इसी तरह से तीर्थंकर भगवान भी उपकार-बुद्धि से वर्षी दान देते हैं। इसलिये उस द्रव्य से पीछे से होने वाले पापकर्म के भागी तीर्थंकर नहीं हो सकते। इसी तरह से मरते हुये जीव को बचाने

दर भी, बचाने वाले को दया-बुद्धि के शुभ परिणाम होने से महान् लाभ होता है, परन्तु बचने वाले जीव पर बचाने का कुछ भी स्वार्थ या परिग्रह-बुद्धि का ममत्व भाव नहीं होता, इसलिये बचने वाला जीव जो भी पाप कर्म करता है उसका पाप करने वाला भोगेगा परन्तु बचाने वाले उपकारी को उसका पाप कुछ भी नहीं लग सकता। इसी तरह से राजा महाराजा, बलदेव, चक्रवर्ती और मण्डलेश्वर आदि महान् पुरुष अपने राज आदि ममत्व को छोड़ कर दीक्षा लेते हैं उसके बाद उस राज आदि में युद्ध आदि भयंकर पाप-कर्म होते हैं, उसके भागीदार छोड़ने वाले महापुरुष कुछ भी नहीं हो सकते हैं।

यदि कहा जाय कि तीर्थंकर दीक्षा लेने के समय पहिले वर्षी दान देते हैं यह राजनीति है परन्तु इसमें धर्म नहीं है ऐसा कहना भी अनुचित है। बलदेव, वासुदेव चक्रवर्ती आदि बड़ी सम्पत्ति वाले अनेक राजा हो गये हैं, परन्तु ऐसा दान किसी ने भी नहीं दिया है। यदि राजनीति होती, तो चक्रवर्ती आदि ऐसा दान सब कोई देते परन्तु किसी भी शास्त्र में ऐसा दान देने वालों का वर्णन नहीं आया। इसलिये राजनीति का नाम लेकर दान देने का निषेध करना अनुचित है। देखो अपने सगे सम्बन्धियों को और बहिन बेटी आदि को जो दान दिया जाता है, वह राजनीति का उचित दान कहा जाता है। तथा चारण-भाट-कवि आदि बिरुदावली (प्रशंसा वंशावली) कहने वालों को जो दान दिया जाता है, वह कीर्तिदान कहा जाता है और दुःखी, अनाथ, वृद्ध, रोगी, कर्जदार, चिन्तातुर आदि को जो उपकार-बुद्धि से उनका कष्ट निवारण के लिये दान दिया जाता है वह अनुकम्पादान कहा जाता है। तीर्थंकर भगवान जो वर्षी दान देते हैं वह जगत के जीवों का कष्ट दूर करके उनको सुखी करने के लिये देते हैं। इसलिये यह दान अनुकम्पा दान कहा जाता है। उस दान को लेकर रोगी अनाथ आदि अपना

सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। इसलिये वर्षीदान को राजनीति या कीर्तिदान नहीं कह सकते। यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध अनुकम्पादान साबित होता है। इसको राजनीति का दान कहकर अनुकम्पा दान का निषेध करना सर्वथा अनुचित है।

फिर भी देखो न्यायबुद्धि से अपने हृदय में विचार करो ऐसा दान धर्म में मानोगे या अधर्म में। यदि अधर्म में मानोगे तो ऐसे दान देने पर किसी भी तीर्थंकर को अधर्म का पाप लगा होता; उनके कर्म-बन्धन से भगवान को दुःख भोगना पड़ा होता या ऐसे अधर्म का पश्चाताप करना पड़ता और उस अधर्म की आलोयणा (प्रायश्चित-दण्ड) लिया होता। परन्तु वैसा किसी भी शास्त्र में कोई भी नहीं दिखा सकता। यदि अपने मनमें धर्म मानोगे तो अधर्म कहकर उसका निषेध करके भोले जीवों को भ्रम में डालकर अनुकम्पादान का अन्तराय देना सर्वथा अनुचित है। इसीलिये आप लोगों से स्नेहभाव पूर्वक नम्रता से हमारा यही कहना है कि—अनुकम्पादान में पाप बतलाना छोड़ो और अपनी भूल को सुधारो।

फिर भी देखो—खुद केवलज्ञानी या छद्मस्थ साधु उपकार बुद्धि से किसी को दीक्षा देते हैं, शास्त्र पढ़ाते हैं, परन्तु पीछे से वह कुपात्र होकर उत्सूत्र प्ररूपणा करके बड़ा अनर्थ करने वाला होता है, परन्तु वह पाप दीक्षा देने वाले गुरु को नहीं लग सकता। इसी प्रकार मरते हुए प्राणी को बचाने में और दुःखी को दान देने में दाता को पाप नहीं लग सकता, करने वाले को ही लगता है।

फिर भी विचार करो—अनुकम्पादान में अधर्म होता और पाप कर्म बँधते, तो एक तीर्थंकर का दिया हुआ वर्षी दान का दूसरे तीर्थंकर अवश्य ही निषेध करते। किन्तु अनादि काल से सर्व तीर्थंकर दीक्षा लेते समय ऐसा दान देते आये हैं। यह बात

केवलज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग भाषित जैनागमों में प्रसिद्ध है। इस-लिये ऐसे दान में ज्ञानियों के हिसाब से तो धर्म ही साबित होता है, अधर्म कदापि किसी तरह से भी साबित नहीं होता। जो लोग ऐसे दान में अधर्म कहकर निषेध करते हैं उनकी भूल है। उसको सुधारना ही कल्याणकारी है।

कहा जाता है कि यदि कोई बलवान हिंसक अपने स्वार्थवश निर्बल गरीब को मारता है, तो उस गरीब, निर्धन और निर्बल का पूर्व भव का उसके साथ वैसा ही वैर होगा या उस गरीब जीव ने पूर्व भव में ऐसे ही कर्म बांधे होंगे जो इस भव में उदय होने पर भोगता है यह इस प्रकार हिंसित होकर पूर्व भव का कर्म रूपी कर्ज ही चुकाता है। इसलिए कुछ लोग कहते हैं कि इसमें अपने को बचाने के लिये बीच में क्यों पड़ना चाहिये। ऐसे कहने वाले भी जैन-शास्त्रों से सर्वथा अनजान ठहरते हैं और अपने अज्ञान से भोले जीवों को व्यर्थ ही भ्रम में डालकर बहकाते हैं। वस्तुतः प्रथम तो यह विचार करने की बात है कि यह भी सम्भव है कि उस गरीब जीव के पूर्व भव का कोई वैर न हो और मारने वाला अपने स्वार्थ-वश बिना वैर ही मार कर कष्ट देता हो। इस बात का तुमको ज्ञान नहीं है। इसलिये पूर्व भव का वैर होने का नाम लेकर मरते हुए जीव को बचाने की मनाही करना सर्वथा अनुचित है। फिर भी देखो—जब पार्श्वकुमार बाग में कमठ तापस के पास अपनी माता के साथ गये, तब उन्होंने जो कमठ तापस पंचाग्नि तपता था उसमें एक बड़े काष्ठ की पोलान में जलता हुआ सर्प देखा। तब भगवान ने सब लोगों के सामने उस बड़े काष्ठ को अग्नि से बाहर निकाल कर अपने नौकर से सावधानी के साथ उस काष्ठ को फड़-वाया। उसमें से आधा जलता हुआ सर्प को निकाल कर लोगों को बतलाया। और सर्प को नवकार मंत्र सुनाया। उस समय वह सर्प पार्श्वनाथ भगवान के दर्शन से बड़ा आनन्दित हुआ और नवकार

मंत्र के प्रभाव से उसी समय मरकर नागकुमार देवलोक में धरणेन्द्र हुआ। यह बात जैन-शास्त्र में प्रसिद्ध ही है। अब विचार करो कि सर्प के जीव ने कमठ तापस के साथ के साथ कोई वैर नहीं किया था, इसलिये बिचारा बिना वैर के ही कमठ तापस की अज्ञानता से मारा जा रहा था। उसको भगवान ने बचाया। बड़ा उपकार हुआ। इसी तरह जो कोई उपकार बुद्धि से दया लाकर मारते हुये जीवों को यथाशक्ति बचावेगा, तो उसको जीवदया का महान लाभ होगा। सर्प को मरने से बचाने में, पार्श्वनाथ भगवान को कोई पाप नहीं लगा। इसी तरह से अपन लोग भी दया लाकर मरते हुए जीव को बचावें, तो कोई पाप नहीं लग सकता। पूर्व भव का वैर का नाम लेकर जीव को न बचाना सर्वथा अनुचित है।

मान लीजिये कि अनुकम्पादान और दया को नहीं मानने वाला तथा कर्मानुसार कष्ट भोग कर कर्मरूपी कर्ज चुकाने को मानने वाला कोई बड़ा सेठिया अपने माता, बहिन, स्त्री आदि परिवार सहित अपने गुरु को वन्दना करने के लिये अपने गांव से दूसरे गांव जाता हो। उस समय उसे रास्ते में व्यभिचारियों, चोरों और गुन्डों की टोली मिल जावे और मार पीट करने लगे। डर के मारे पास के नौकर भग जावें और वे बदमाश लोग सेठ के पास का सब धन लूट कर सेठ को बुरी तरह से बांध कर डाल दें; सेठ मरणान्त कष्ट भोगे या उसके देखते हुए ही उसके माता, बहिन, स्त्री आदि पर बलात्कार हो, सब लोग भय से व्याकुल हो कर अपने बचाव की आशा करें ऐसे कष्ट के समय, "अपने २ कर्म भोगते हैं, करेगा सो पावेगा" ऐसा विचार नहीं कर सकते; किन्तु यदि शक्ति हो तो अपनी माता, स्त्री, बहिन आदि व अपने धन को बचाने के लिये अवश्य ही उद्यम करे। ऐसे कष्ट के समय में यदि कोई शूरवीर उपकारी पुरुष आजावे और अपने मरने के कष्ट का भय छोड़ कर उन गुन्डों को शिक्षा देकर सेठ के धन को, जीवन को तथा माता

और आपको हमारे ग्रन्थ का सच्चा ज्ञान न हुआ परन्तु स्थानकवासियों में [illegible] आदि में [illegible] [illegible] का खर्च तथा [illegible] आदि ८-१० [illegible] को ३०-४० हजार [illegible] के लिये हजारों का खर्च और [illegible] में [illegible] का महान् आरम्भ [illegible] होता है यह भी [illegible] ही है।

जिस तरह रोगी का रोग दूर करने वाले वैद्य की दवाई के ऊपर अज्ञरोगी बहुत नाराज होकर गालियें देने लगता है, तो भी वैद्य गम्भीरता से सहन करता हुआ उसका रोग दूर करके उपकार करता है। उसी तरह हम लोगों ने भी आपके हमेशा मुंहपत्ति बांधने वगैरह मिथ्यात्व के रोग को दूर करने के लिये आगमपाठों के साथ इस ग्रन्थ में भगवान की वाणीरूप अमृत की दवाई दी है, जिससे पुण्यवान् बड़े खुशी हो रहे हैं परन्तु हठधर्मी हमारे ऊपर नाराज होकर गालियां देते हैं, उनके ऊपर हम नाराज होने वाले नहीं हैं। जिसके पास हमेशा मुंहपत्ति बांधने बाबत आगम प्रमाण न होवे और मिथ्याहठ छोड़ भी न सके तो अपना झूठा बचाव करने के लिये क्रोध से गालियाँ दें, उनकी खुशी। परन्तु सत्य न्याय की दृष्टि से उचित तो यही है कि मिथ्या बात तो छोड़ कर सत्य ग्रहण करना चाहिये।

अब आप लोग सच्चे दिल से जिस तरह चर्चा करना चाहते हैं १० दिन में उत्तर दें।

पं० मुनि मणिसागर,

सम्वत् १९८३ ठि० श्री महावीर जैन लायब्रेरी, मन्त्री-
फाल्गुन शुक्ला ५ शेरसिंह कोठारी, कोटा [राजपूताना]

[आगरा से प्रकाशित जैन-पथ-प्रदर्शक के अंक ३७ ता० १६ मार्च १९२७ मिती फाल्गुन शुक्ला १३ बुधवार सं. १९८३ के अंक से उद्धृत]

——:०:——

परिशिष्ट–ख.

स्थानकवासियों को सूचना

व्यर्थ का क्लेश क्यों बढ़ाते हो ?

आगमानुसार मुंहपत्ति का निर्णय और जाहिर उद्घोषणा नं० १–२–३ नामक ग्रन्थ में अनेक आगमपाठों के साथ हमेशा मुंहपत्ति बंधी रहना अनुचित ठहरा दिया और बोलते समय मुंह आगे वस्त्रिका रख कर बोलना अनादि सिद्ध कर दिया। यह ग्रन्थ प्रकट होकर देश-देशान्तरों में फैलने लगा, उस पर ता० ७–३–२७ के बम्बई की स्थानकवासी जैन कॉन्फरेन्स की तरफ से "जैन प्रकाश" पत्र में तथा चैत्र शुक्ला पञ्चमी सं० १९८४ के दिन आगरा के "जैन पथप्रदर्शक" में 'मुख वस्त्रिका समीक्षा की परीक्षा' वाले लेखों में "त्रस जीवों की रक्षा के लिये बोलते समय मुंह पर कपड़ा लगाना दोनों को मान्य है। दोनों ही उसे संयम का साधन मानते हैं। इस

लिये श्वे० मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के पन्यास श्री धर्मविजयजी आदि २ संवेगी साधु भी व्याख्यान के समय मुंह पर मुंहपत्ति लगा लेते हैं।" तथा "बोलते समय मुंह के आगे वस्त्रिका लगाने का विधान सूत्र ग्रन्थों में है और इस विषय में तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सभी पक्ष एक मत हैं।" ऐसे ऐसे लेख छपवा कर बोलते समय मुंह आगे मुंहपत्ति रखना सूत्रानुसार स्वीकार कर लिया। इससे स्थानकवासियों के उपरोक्त लेखों से ही बिना बोले हमेशा मुंहपत्ति बाँधी रहना सूत्र विरुद्ध ठहर गया, तथा व्याख्यानादि कार्यवश जैसे कई संवेगी साधुओं का नाक-मुंह दोनों के ऊपर मुंहपत्ति बांधने को स्वीकार कर लिया, उससे नाक खुला रखकर अकेला मुंह बांधना भी सूत्र विरुद्ध साबित कर दिया, जिससे अब या तो नाक-मुंह दोनों बांधने चाहिये या अकेला मुंह बांधने की अंधरूढ़ि का त्याग करना चाहिये।

स्थानकवासियों के ऊपर के लेखों से पाठकगण अच्छी तरह समझ सकते हैं कि बिना बोले हमेशा मुंहपत्ति बाँधने बाबत स्थानकवासियों के आगेवान पत्रों में ही अपनी भूल स्वीकार करके आगमानुसार मुंहपत्ति का निर्णय में लिखे प्रमाणे बोलते समय मुंह आगे मुख वस्त्रिका रखने की बात सूत्रानुसार मान्य करली। उस दिन से ही हमने इस विषय में विशेष लिखना उचित नहीं समझा, जिसपर भी अब कितनेक स्थानकवासियों को ऊपर की बात से बड़ा आघात पहुँचा। अकेला मुंह बाँधने की मिथ्या बात को छोड़ते नहीं तथा नाक-मुंह दोनों बाँधने में भी शर्म आती है और शांति से चुप होकर बैठते भी नहीं।

भाद्रपद कृष्णा पंचमी के आगरा के "जैन पथप्रदर्शक" में 'पुरानी दबी झगड़े की पुस्तक को समाज में फैला कर क्लेश बढ़ाने के लिये 'दंडी दंभ दर्पण' को दूसरी बार छापने की सूचना निकाली

है यह अनुचित है। 'ढूंढ़ी दंभ दर्पण' आदि स्थानकवासियों की तरफ से आज तक छपी हुई तमाम पुस्तकों के ही उत्तर में "आगमानुसार मुंहपत्ति का निर्णय और जाहिर उद्घोषणा नं० १-२-३" निकाली गई। उसमें हमेशा मुंहपत्ति बांधी रखने में ३६ दोषों की प्राप्ति, दंडा रखने में १५ गुणों की प्राप्ति, शरीर की शुचि के लिये रात्रि को जल नहीं रखने में २१ दोष और दया २ पुकारने वाले ३२ कार्य हिंसा के करते हैं, इत्यादि बहुत बातों का निर्णय कर दिया है और अब अलग विशेष रूप से चाहते हो तो यह भी स्थानकवासियों की आशा पूर्ण करने का विचार करना पड़ेगा। इसलिये समय को देखकर चुप बैठे रहना ही हितकारी है, और आगमानुसार मुंहपत्ति का निर्णय व जाहिर उद्घोषणा नं० १-२-३ का प्रचार होना बन्द करवाना चाहते हो तो हमारा गत फाल्गुण शुक्ला पंचमी का लिखा हुआ पत्र (नोटिस) मुजब व्यवस्था करो या उचित रीति से पत्र व्यवहार करके कोई रास्ता निकालो और स्थानकवासियों के ही अमरसिंह जैन मंडल अम्बाला शहर (पंजाब) वालों का लेख 'जैन पथप्रदर्शक' के गत चैत्र कृष्णा पञ्चमी को संप-शांति रखने बाबत छपा है उसका पालन करो। विशेष क्या लिखें।

भाद्रपद कृष्ण ८ पं० मुनि मणिसागर
सं० १९८४ जैन धर्मशाला मु० कोटा.

[आगरा से प्रकाशित 'श्वेताम्बर जैन' के ता० २५ अगस्त १९२७ के अङ्क से उद्धृत]

है यह अनुचित है। 'ढूंढी दंभ दर्पण' आदि स्थानकवासियों की तरफ से आज तक छपी हुई तमाम पुस्तकों के ही उत्तर में "आगमानुसार मुंहपत्ति का निर्णय और जाहिर उद्घोषणा नं० १-२-३" निकाली गई। उसमें हमेशा मुंहपत्ति बाँधी रखने में ३६ दोषों की प्राप्ति, दंडा रखने में १५ गुणों की प्राप्ति, शरीर की शुचि के लिये रात्रि को जल नहीं रखने में २१ दोष और दया २ पुकारने वाले ३२ कार्य हिंसा के करते हैं, इत्यादि बहुत बातों का निर्णय कर दिया है और अब अलग विशेष रूप से चाहते हो तो यह भी स्थानकवासियों की आशा पूर्ण करने का विचार करना पड़ेगा। इसलिये समय को देखकर चुप बैठे रहना ही हितकारी है, और आगमानुसार मुंहपत्ति का निर्णय व जाहिर उद्घोषणा नं० १-२-३ का प्रचार होना बन्द करवाना चाहते हो तो हमारा गत फाल्गुण शुक्ला पंचमी का लिखा हुआ पत्र (नोटिस) मुजब व्यवस्था करो या उचित रीति से पत्र व्यवहार करके कोई रास्ता निकालो और स्थानकवासियों के ही अमरसिंह जैन मंडल अम्बाला शहर (पंजाब) वालों का लेख 'जैन पथप्रदर्शक' के गत चैत्र कृष्णा पञ्चमी को संप-शांति रखने बाबत छपा है उसका पालन करो। विशेष क्या लिखें।

भाद्रपद कृष्ण ८
संं० १९८४

पं० मुनि मणिसागर
जैन धर्मशाला मु० कोटा.

[आगरा से प्रकाशित 'श्वेताम्बर जैन' के ता० २५ अगस्त १९२७ के अङ्क से उद्धृत]

लिखे श्वे० मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के पन्यास श्री धर्मविजयजी आदि २ संवेगी साधु भी व्याख्यान के समय मुंह पर मुंहपत्ति लगा लेते हैं।" तथा "बोलते समय मुंह के आगे वस्त्रिका लगाने का विधान सूत्र ग्रन्थों में है और इस विषय में तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सभी पक्ष एक मत हैं।" ऐसे ऐसे लेख छपवा कर बोलते समय मुंह आगे मुंहपत्ति रखना सूत्रानुसार स्वीकार कर लिया। इससे स्थानकवासियों के उपरोक्त लेखों से ही बिना बोले हमेशा मुंहपत्ति बाँधी रहना सूत्र विरुद्ध ठहर गया, तथा व्याख्यानादि कार्यवश जैसे कई संवेगी साधुओं का नाक-मुंह दोनों के ऊपर मुंहपत्ति बांधने को स्वीकार कर लिया, उससे नाक खुला रखकर अकेला मुंह बांधना भी सूत्र विरुद्ध साबित कर दिया, जिससे अब या तो नाक-मुंह दोनों बांधने चाहिये या अकेला मुंह बांधने की अंधरूढ़ि का त्याग करना चाहिये।

स्थानकवासियों के ऊपर के लेखों से पाठकगण अच्छी तरह समझ सकते हैं कि बिना बोले हमेशा मुंहपत्ति बाँधने बाबत स्थानकवासियों के आगेवान पत्रों में ही अपनी भूल स्वीकार करके आगमानुसार मुंहपत्ति का निर्णय में लिखे प्रमाण बोलते समय मुंह आगे मुख वस्त्रिका रखने की बात सूत्रानुसार मान्य करली। उस दिन से ही हमने इस विषय में विशेष लिखना उचित नहीं समझा, जिसपर भी अब कितनेक स्थानकवासियों को ऊपर की बात से बड़ा आघात पहुँचा। अकेला मुंह बाँधने की मिथ्या बात को छोड़ते नहीं तथा नाक-मुंह दोनों बाँधने में भी शर्म आती है और शांति से चुप होकर बैठते भी नहीं।

भाद्रपद कृष्णा पंचमी के आगरा के "जैन पथप्रदर्शक" में 'पुरानी दबी झगड़े की पुस्तक को समाज में फैला कर क्लेश बढ़ाने के लिये 'दंडी दंभ दर्पण' को दूसरी बार छापने की सूचना निकाली

है यह अनुचित है। 'ढूंढी दंभ दर्पण' आदि स्थानकवासियों की तरफ से आज तक छपी हुई तमाम पुस्तकों के ही उत्तर में "आगमानुसार मुंहपत्ति का निर्णय और जाहिर उद्घोषणा नं० १-२-३" निकाली गई। उनमें हमेशा मुंहपत्ति बाँधी रखने में ३६ दोषों की प्राप्ति, दंडा रखने में १५ गुणों की प्राप्ति, शरीर की शुचि के लिये रात्रि को जल नहीं रखने में २१ दोष और दया २ पुकारने वाले ३२ कार्य हिंसा के करते हैं, इत्यादि बहुत बातों का निर्णय कर दिया है और अब अलग विशेष रूप से चाहते हो तो यह भी स्थानकवासियों की आशा पूर्ण करने का विचार करना पड़ेगा। इसलिये समय को देखकर चुप बैठे रहना ही हितकारी है, और आगमानुसार मुंहपत्ति का निर्णय व जाहिर उद्घोषणा नं० १-२-३ का प्रचार होना बन्द करवाना चाहते हो तो हमारा गत फाल्गुण शुक्ला पंचमी का लिखा हुआ पत्र (नोटिस) मुजब व्यवस्था करो या उचित रीति से पत्र व्यवहार करके कोई रास्ता निकालो और स्थानकवासियों के ही अमरसिंह जैन मंडल अम्बाला शहर (पंजाब) वालों का लेख 'जैन पथप्रदर्शक' के गत चैत्र कृष्णा पञ्चमी को संप-शांति रखने बाबत छपा है उसका पालन करो। विशेष क्या लिखें।

भाद्रपद कृष्ण ८ — पं० मुनि मणिसागर
सं० १९८४ — जैन धर्मशाला मु० कोटा.

[आगरा से प्रकाशित 'श्वेताम्बर जैन' के ता० २५ अगस्त १९२७ के अङ्क से उद्धृत]